बौद्ध पुनर्जागरण स्वर्ण जयंती माला

धम्मपद
गाथा और कथा

रचनाकार

ताराराम

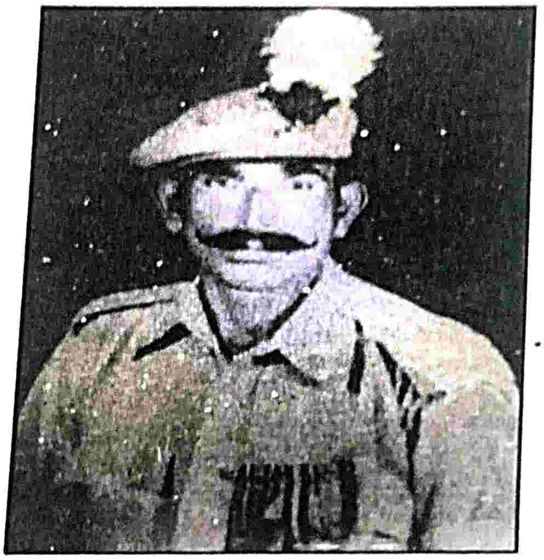
बौद्ध अध्ययन और अनुसंधान केंद्र, जोधपुर (राजस्थान)

चित्र संयोजन

बौद्धाचार्य शान्ति स्वरूप बौद्ध

सम्यक प्रकाशन

समर्पण



परिनिब्बुत धर्माराम जी

स्वतंत्रता सेनानी, जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर 1971 तक के
भारत के विरुद्ध किए गए आक्रमणों में देश को सुरक्षा प्रदान
करके राष्ट्र के गौरव को बढ़ाया एवं एक आदर्श पिता
के रूप में हम को
बौद्ध धम्म एवं स्वाभिमान की राह दिखाई।

PROF. RAM GOPAL
UGC Visiting Professor

DEPARTMENT OF CHEMISTRY
JAI NARAIN VYAS UNIVERSITY
JODHPUR (RAJ.) ✆ 0291-2720840 (O)

Date : ....

नमो: तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स:

मुझे हर्ष है कि **धम्मपद** की यह शोधपूर्ण पुस्तक संपूर्ण गाथाओं और अंतर्कथाओं के मर्म के साथ राजभाषा हिन्दी में प्रकाशित हो रही है। संपूर्ण बुद्ध वचनों का संगायन त्रिपिटकों में किया गया है जिसमें भगवान बुद्ध द्वारा पालि में उपदिष्ट 84,000 धर्मस्कंधों का विस्तृत वर्गीकरण विभिन्न पिटकों, निकायों, वग्गों एवं सुत्तों में किया गया है। त्रिपिटकों में से सूत्रपिटक (सुत्तपिटक) का पाँचवां भाग खुद्दकनिकाय है और **धम्मपद** खुद्दकनिकाय में संग्रहीत 15 ग्रंथों में से दूसरा ग्रंथ है। बौद्ध धर्म का समस्त सार–संकलन **धम्मपद** में निहित है। तथागत की अमृत वाणी का सार प्रत्येक गाथा में भरा हुआ है जिन्हे सुनकर विश्व के अनगिनत दुःख–सन्तप्त प्राणियों का उद्धार हुआ है।

विश्व की लगभग सभी भाषाओं में **धम्मपद** के अनेक–अनेक अनुवाद किये गये है। अर्थकथाचार्य भदन्त बुद्धघोष महास्थविर ने सिंहल भाषा में सुरक्षित **'धम्मपदट्ठकथा'** को पालि में प्रवर्तित किया और अब भिक्षु धर्मरक्षित एवं आचार्य प्रवर बुद्धघोष के हिन्दी में प्रवर्तन के पश्चात् बुद्ध शासन के मर्मज्ञ एवं मनोविज्ञानी तारारामजी ने 'गहकारकं गवेसन्तो' का अनुपालन करते हुए सरल, सहज और बोध्यगम्य आज की सुआख्यात भाषा में विस्तार से गाथाओं का वर्णन किया हैं पढ़ते–पढ़ते ही श्रोतापन्न स्थिति में पहुँचा पाठक गाथा के संदर्भ–विषय, स्थान और धर्मसार का साक्षात्कार कर लेता है।

अनुसंधान–अध्येता तारारामजी ने सारगर्भित एवं सविस्तार भूमिका में संपूर्ण बौद्ध साहित्य का क्रमिक वर्णन करते हुए बुद्ध जीवन, आर्य–सत्य, अष्टांगिक मार्ग (प्रज्ञा–शील–समाधि), त्रिविध देशना और संगीतियों के विवरण के साथ इस 'प्रथम विलक्षण ऐतिहासिक वाङ्मय' को ग्राह्य बना दिया है। महाकारुणिक की कृपा का प्रसाद विद्वान् लेखक ने पाया और बांटा है, अपने कल्याण के साथ हमारा कल्याण भी साधा है।

इन्हीं मंगल कामनाओं के साथ!

कल्याण मित्र

जोधपुर
28 अप्रेल 2004

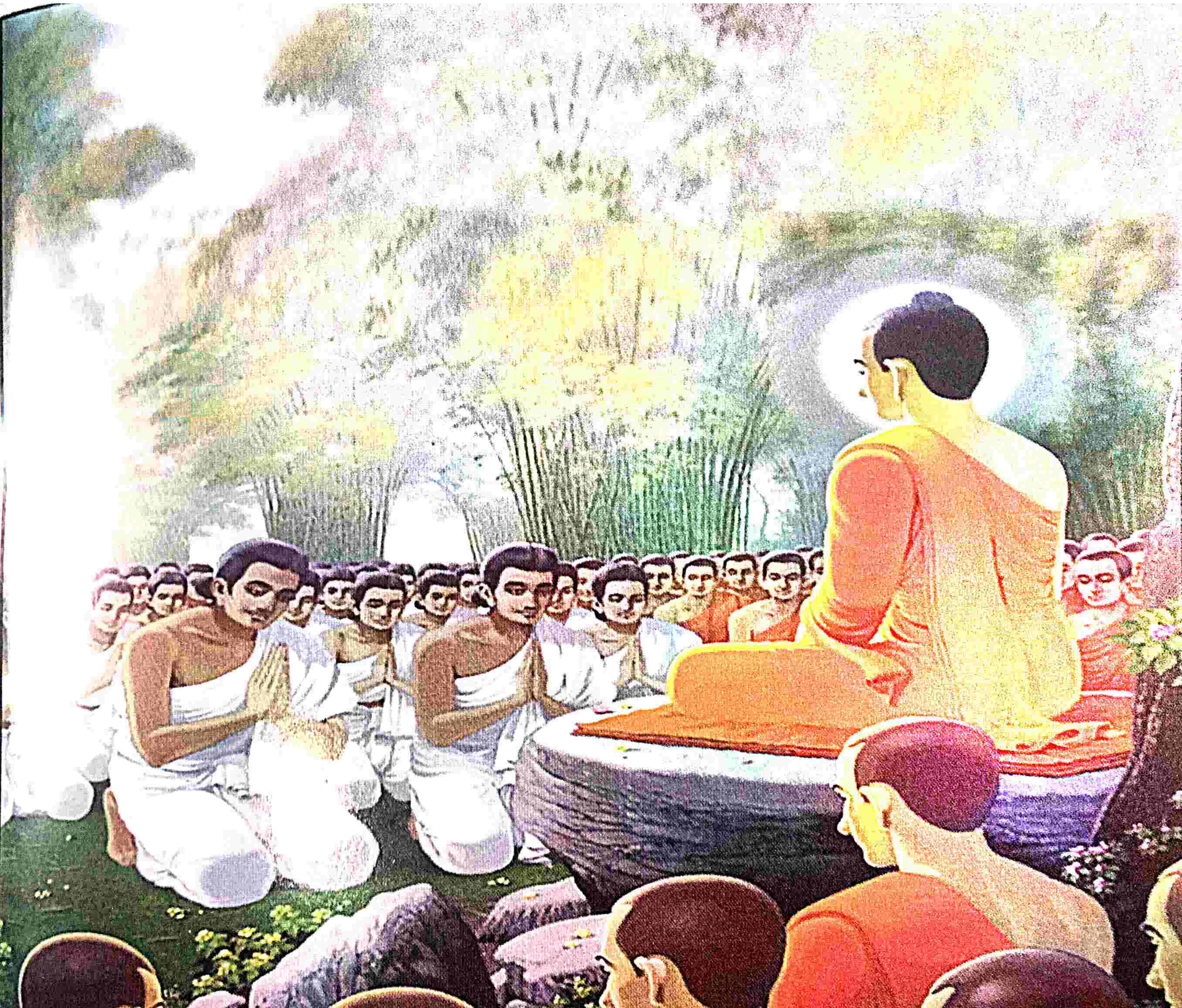
प्रो. (डॉ.) रामगोपाल
यू.जी.सी. प्रोफेसर, जयनारायण व्यास
विश्वविद्यालय, जोधपुर
रक्षा वैज्ञानिक एवं अध्यक्ष, W.A.V.E.S., जोधपुर

Residence : A-66, Krishna Nagar, New Pali Road, Jodhpur-342005
E-mail drramgopal@sify.com Tel 91-291-2726675, Fax c/o Tapan 0291-2438266
Former Director Defence Laboratory, Jodhpur
Former Director of Materials, DRDO, New Delhi

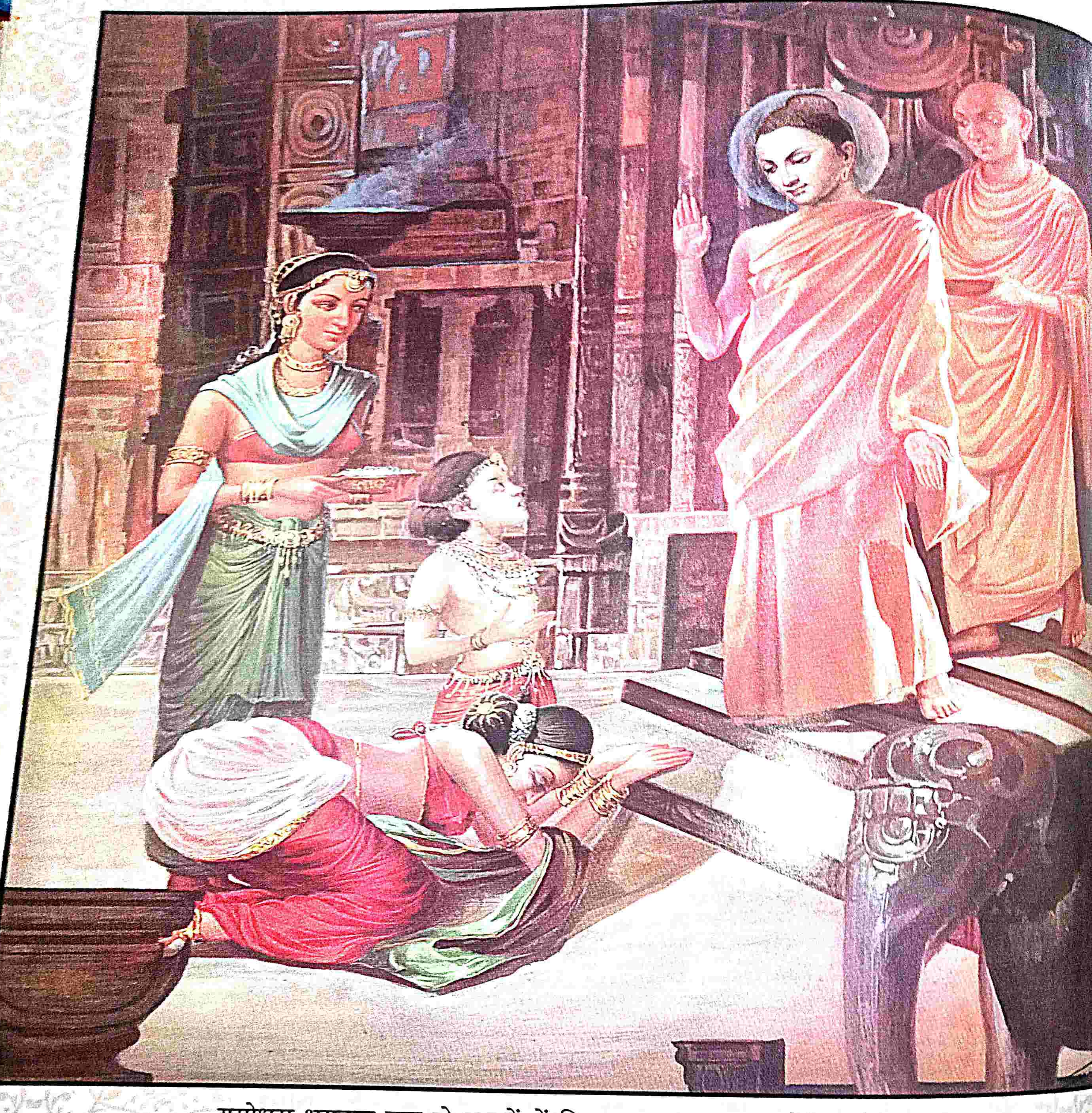


लुम्बिनी वन के शाल वृक्षों के नीचे कुमार सिद्धार्थ के जन्म का दृश्य





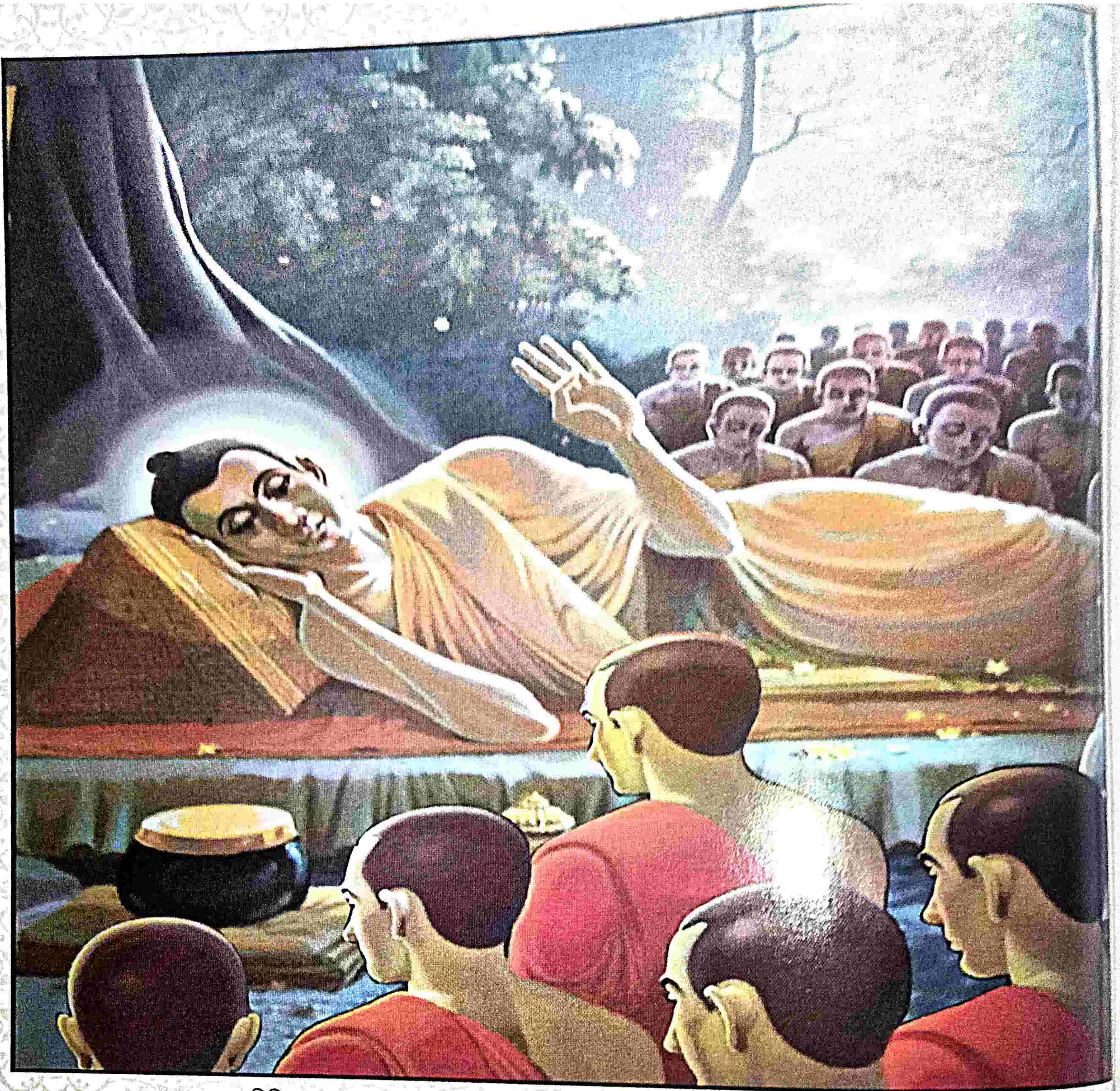
सारिपुत्त और मोग्गल्लान अपने शिष्यों सहित तथागत की शरण में



यसोधरा भगवान बुद्ध के चरणों में गिर कर फूट-फूट कर रोने लगी



भगवान बुद्ध की शरण पाकर अहिंसक अंगुलिमाल ने पाप-कर्म त्याग दिए



महापरिनिब्बान-सुत्त का उपदेश करते हुए भगवान तथागत सम्यक सम्बुद्ध



सिद्धार्थ की जन्मस्थली
लुम्बिनी में स्थापित
अशोक स्तंभ



कुशीनगर स्थित महापरिनिर्वाण स्तूप एवं चैत्य
(जहाँ भगवान बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था)

भूमिका

महाकारुणिक भगवान बुद्ध का धर्म अनुपम पुण्यक्षेत्र है। विश्व इतिहास में उनकी तुलना का कोई सत्त्व न हुआ है और न ही होगा। विश्व इतिहास में सम्यक्सम्बुद्ध ही एक मात्र ऐसे देदीप्यमान व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने लगातार पैंतालीस वर्षों तक अनवरत, दुखी, पीड़ित मानवता के अज्ञान की बेड़ियों को तोड़ने के लिए कृत संकल्प हो, घूम-घूम कर धम्मचक्र प्रवर्तन किया, फिर भी वे थके नहीं, वे चलते रहे— *''चरथ भिक्खवे चारिकं, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकंपाय अथाय हिताय, सुखाय देवमनुस्सानं''* इस उद्घोष के साथ उनका 'धम्मचक्र' निरंतर प्रवर्तन करता रहा, जो *'आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसान कल्याणं'* है। जगत् के उद्धारक उत्तमशास्ता महाकारुणिक सम्यक्सम्बुद्ध ने देवताओं सहित इस लोक के अनंत हित और सुख के लिए सर्वोत्तम देशना दी।

भगवान की देशना के संग्रह का विशाल भंडार आज भी भवार्णव जगत् में विद्यमान है, जो सदियों तक मानव को प्रज्ञा-प्रतिबोध कराता रहेगा। उनकी देशना का एक-एक अक्षर अमृत की बूंद है, वह पवित्र पालना और प्रतिबोधन प्रज्ञा का निखरा रूप है। अस्तु, तथागत के उपदेशों के विशाल संग्रह को परियति, प्रतिपत्ति (पटिपत्ति) और प्रतिवेध (पटिवेध) भी कहा जाता है। इनमें भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म 'परियत्ति' नामक सद्धर्म है। यह 'परियत्ति' धर्म बुद्ध शासन की आधारशिला है। इस 'परियत्ति-धर्म' के होने पर ही प्रतिपति और प्रतिवेध धर्म स्थिर रह सकते हैं। इतिहास साक्षी है कि जब भारत में इस 'परियत्ति-धर्म' के विशाल संग्रह को मिटा दिया गया, जला दिया गया अथवा प्रच्छन्न कर दिया गया, तो सद्धर्म का अवस्थान भी भारत से शनैः-शनैः लुप्त होने लगा। स्पष्टतः प्रतिपत्ति और प्रतिवेध धर्म परियत्ति धर्म के नहीं होने पर नहीं रह सकते हैं। अस्तु, सद्धर्म की चिरस्थिति की कामना से महाकस्सप आदि महाथेरों ने 'परियत्ति-धर्म' का संग्रह किया। वस्तुतः ये 'बुद्ध-वचन' ही हैं।

तथागत सम्यक्सम्बुद्ध के द्वारा स्थान-स्थान पर जो देशनाएं दी गई थीं, उसको उनके अनुयायी भिक्खुओं के द्वारा कंठस्थ कर लिया गया था। स्वयंभू, लोकनाथ, त्रैलोक्यदीप का महापरिनिर्वाण हुए अभी एक सप्ताह भी नहीं बीता था कि पावा और कुसीनारा के मध्य 500 भिक्खुओं के साथ चारिका करते हुए महाकस्सप ने सुभद्र नामक एक वृद्ध प्रव्रजित को यह कहते हुए सुना, ''बस, आयुष्मानो शोक मत करो, विलाप मत करो, हम उस महाश्रमण (सम्यक्सम्बुद्ध) से अच्छी तरह से मुक्त हो गए हैं। हम उसके द्वारा सदा यह कहकर पीड़ित किए जाते थे, 'यह तुम्हें विहित्त है, यह तुम्हें विहित्त नहीं है।' अब हम जो चाहेंगे वह करेंगे, जो नहीं चाहेंगे वह नहीं करेंगे।'' सुभद्र के ये बोल भिक्खुसंघ के लिए चिंता की बात थी, सद्धर्म के लिए चुनौती थी। भिक्खुसंघ का चिंतित होना स्वाभाविक था—अधर्म और अविनय का यह प्रकाटय था। अतः लोक में तथागत की देशना और विनय नष्ट न हो, इस पर विचार किया गया। संघ का निष्कर्ष था—तथागत के उपदेश अर्थात सूत्रांतों के न होने पर और विनय के विनिष्ट हो जाने पर यह लोक उसी प्रकार अंधकारमय हो जाएगा, जिस प्रकार सूर्य के अस्तांचल जाने पर जगत् अन्धकारमय होता है। सूत्रांतों के सुरक्षित रहने पर पटिपत्ति (आचरण, ध्यानभावना आदि) भी सुरक्षित रहती है और पटिपत्ति में स्थित धीर पुरुष योग क्षेत्र से परिभ्रष्ट नहीं होता है। अतः उस समय महाकस्सप आदि महाथेरों ने बुद्ध वचनों का संगायन कर त्रिपिटक के रूप में संजो (सृजन) कर बुद्ध शासन की रक्षा की। यह कहना सार्थक है कि उस समय के राजाओं और सामान्य जनता ने भी उसमें अपना यथोचित योगदान दिया। उनके इस महती प्रयत्न की परिणति त्रिपिटक के रूप में आविर्भूत हुई। उनकी देशना जगत् में 'लोक धर्म' और 'सद्धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

त्रिपिटक वस्तुतः बुद्ध वचनों का संग्रह है। तथागत की देशना का यह अत्यंत विशाल भंडार है। विश्व इतिहास के किसी भी धर्म-संस्थापक या धर्मवेत्ता की इतनी विशाल वाणी हमें उपलब्ध नहीं होती है, जितनी मूलरूप में तथागत सम्यक्सम्बुद्ध की वाणी उपलब्ध होती है। उनका यह संग्रह अद्वितीय व अतुलनीय है। 'विश्व-आलोक' तथागत की देशना त्रिविध कही गई है, उनका शासन त्रिविध है, कथाएं तीन हैं, शिक्षा तीन हैं, प्रहाण भी तीन हैं और पिटक भी तीन हैं।

तथागत की देशना को 'आणा' 'वोहार' और 'परमत्थ' देशना कहा जाता है। आज्ञा देने योग्य भगवान द्वारा उपदिष्ट विनय देशना का संग्रह 'आणा (आज्ञा) देशना' या विनय पिटक कहा जाता है। व्यवहार कुशल सम्यक्सम्बुद्ध द्वारा अनुरूप व्यवहार कौशल्य के लिए उपदिष्ट देशना 'वोहार (व्यवहार) देशना' या सूत्रपिटक कहा जाता है। परमार्थ कुशल भगवान द्वारा प्रमुखतः परमार्थ धर्मों के यथार्थ अवबोध के लिए उपदिष्ट 'परमत्थ (परमार्थ) देशना' अभिधर्मपिटक कहा जाता है।

भगवान बुद्ध का धर्म 'शासन' कहा जाता है। राजनीति के शासन से अनुपम इस 'शासन' की गवेषणा करने वाले सम्यक्सम्बुद्ध का 'शासन' तीन प्रकार का है—यथापराध शासन, यथानुलोम शासन और यथाधम्म शासन, अस्तु त्रिपिटक भी तीन ही होते हैं। विनय-पिटक यथापराध शासन है, क्योंकि इसमें अधिकतर अपराध वाले सत्त्व शासित किए जाते हैं। सूत्र-पिटक यथानुलोम शासन है, क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के अध्याशय वाले, अनेक प्रकार के अनुशय वाले, अनेक प्रकार की चर्या एवं अधिमुक्ति वाले सत्त्व अपने-अपने अध्याशय, अनुशय, चर्या और अधिमुक्ति के अनुसार शासित किए जाते हैं। अभिधर्म-पिटक यथाधम्म शासन है, क्योंकि इस पिटक में चित्त, चैतसिक और रूप आदि धर्म समूह में 'अहम्' और 'मम' संज्ञा वाले सत्त्व धर्मों के यथार्थ स्वभाव के अनुरूप शासित होते हैं।

भगवान द्वारा उपदिष्ट देशना को कथाओं के अनुरूप संज्ञेय करने पर ज्ञात होता है कि तथागत ने त्रिविध कथाओं की देशना की है। कथाएं तीन प्रकार की हैं। यथा, संवरासंवर कथा, दिट्ठिविनिवेठन कथा और नामरूप परिच्छेद कथा। अतः देशना का वर्गीकरण या पिटक भी तीन ही होते हैं। विनय-पिटक में अत्याचरण के प्रतिपक्षभूत संवर (संयम=इंद्रिय गुप्ति) और असंवर का कथन किया गया है, अतः विनय-पिटक संवरासंवर कथा है। सूत्र-पिटक में 62 प्रकार की मिथ्यादृष्टियों की प्रतिपक्षभूत दृष्टिविघातक कथाएं उपदिष्ट हैं, अतः सूत्रपिटक 'दिट्ठिविनिवेठन कथा' है और अभिधर्म पिटक में राग-आदि क्लेशों का प्रतिपक्षभूत नामरूप-परिच्छेद कहा गया है, अतः अभिधर्म पिटक 'नामरूप परिच्छेद कथा' है। तथागत द्वारा उपदिष्ट देशना त्रिविध शिक्षा की देशना भी कही जाती है। भगवान की शिक्षा तीन प्रकार की है—अधिशील-शिक्षा, अधिचित्त-शिक्षा और अधिप्रज्ञ-शिक्षा। अतः इस दृष्टि से भी पिटक तीन ही हैं। विनय-पिटक में विशेषतः अधिशील शिक्षा प्रतिपादित है, सूत्र-पिटक में प्रधानतः अधिचित्त-शिक्षा उपदिष्ट है और अभिधर्म-पिटक में अधिप्रज्ञ शिक्षा अभिनिहित है। विनय-पिटक करुणा प्रधान, सूत्र-पिटक करुणा और प्रज्ञा प्रधान तथा अभिधर्म-पिटक प्रज्ञा प्रधान है।

शीतिभूत सम्यक्सम्बुद्ध ने त्रिविध क्लेशों के प्रहाण की देशना दी है। ये तीन प्रकार के प्रहाण हैं—वीतिक्कम (व्यतिक्रम) प्रहाण, परियुट्ठान (पर्युत्थान) तथा अनुशय प्रहाण। इस दृष्टि से भी पिटक तीन ही होते हैं। विनय-पिटक में व्यतिक्रम प्रहाण की देशना है, क्योंकि इस पिटक में प्रतिपादित शील व्यतिक्रम करने वाले क्लेशों का प्रतिपक्ष है। सूत्रपिटक में पर्युत्थान प्रहाण है, क्योंकि इस पिटक में प्रतिपादित समाधि पर्युत्थान प्रहाण है, क्योंकि पिटक में प्रतिपादित समाधि पर्युत्थान क्लेशों का प्रतिपक्ष है। अभिधर्मपिटक में अनुशय प्रहाण है, क्योंकि इस पिटक में प्रतिपादित प्रज्ञा अनुशय क्लेशों का प्रतिपक्ष है। विनयपिटक में क्लेशों का तदंगप्रहाण है तथा सूत्रपिटक और अभिधम्मपिटक में उनका 'विष्कम्भण' और 'समुच्छेद' प्रहाण है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि विनयपिटक में दुश्चरित आदि क्लेशों का प्रहाण है तथा अन्य दो पिटकों में तृष्णा, दृष्टि आदि क्लेशों का प्रहाण है।

बुद्ध-वचनों का संगायन

तथागत की देशना का संगायन पुनरपि समय-समय पर होता रहा है। इतिहासकारों का निष्कर्ष है उनकी धर्म, अर्थ देशना और प्रतिवेध का सर्वप्रथम लिखित सृजन सिरीलंका के राजा वट्टगामणि अभय के शासन काल में हुआ था, जिसकी शासनावधि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मानी जाती है। तथागत सम्यक्सम्बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद 'बुद्ध-वचनों' को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए समय-समय पर संगीतियां जुड़ती रही हैं। ये बुद्ध-वचन आज हमको जिस प्राञ्जल रूप में प्राप्त हैं, उसी रूप में तथागत द्वारा उपदिष्ट हैं। उनकी पवित्रता असंदिग्ध व संदेह से परे है। त्रिपिटक विश्व इतिहास का प्रथम विलक्षण ऐतिहासिक दस्तावेज है, जो सबसे प्राचीन लिपिबद्ध रूप में ज्ञात होता है। इनको परिशुद्ध व अक्षुण्ण बनाए रखने के कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रयासों पर संक्षिप्त प्रकाश डालना समीचीन है—

(1) राजगृह संगीति—भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अनंतर प्रथम सप्ताह में ही भगवान बुद्ध की देशना को सुरक्षित रखने की आवश्यकता तथागत के भिक्खुसंघ को अनुभूत हो चुकी थी। अस्तु, सम्यकसम्बुद्ध के पवित्र वचनामृत के प्राञ्जल रूप को समेकित व सुरक्षित करने के लिए भिक्खुओं की महासभा का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन को संगीति का नाम दिया गया। दूर-दूर से आए हुए प्रबुद्ध भिक्खुओं की इस महासभा में से महाकस्सप ने पांच सौ अर्हत (थेर) भिक्खुओं को चुना। महाकस्सप इस संगीति के अध्यक्ष थे। इस संगीति में महाकस्सप ने धर्म संबंधी प्रश्न आनन्द से तथा विनय संबंधी प्रश्न उपालि से पूछे। उन पर गहन विचार-विमर्श के बाद अंत में सभी भिक्खुओं ने उनका संगायन किया। विश्व इतिहास में किसी धर्म संस्थापक के विचारों एवं व्याख्याओं को सुरक्षित रखने का यह प्रथम ऐतिहासिक प्रयास था, जिनमें वृहत्तर स्तर पर उनकी शिक्षाओं का पालन व आदर करने वालों की सक्रिय भागीदारी थी। यह संगीति भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अनंतर चतुर्थ मास में राजगृह की सप्तपर्णी गुफा में आयोजित की गई थी। राजगृह (बिहार) के पुरातत्त्व अवशेष आज भी इस ऐतिहासिक संगायन को जगत्-प्रसिद्ध बनाए हुए हैं। न केवल बौद्ध जगत् में अपितु विश्व इतिहास में यह अपनी तरह की प्रथम संगीति थी। इस संगीति में मगध की प्रजा एवं मगध शासक अजातशत्रु की सहायता व सहयोग स्वतः ही उजागर होता है। तथागत की देशना के परिष्कृत व सर्वशुद्ध उपदेशों के संग्रह का संगायन पांच सौ थेर (अर्हत) भिक्खुओं द्वारा किया गया था। अतः इसे 'पञ्चशतिका' संगीति के नाम से भी जाना जाता है।

(2) वैशाली संगीति—तथागत के वचनों का संग्रह एवं संगायन तथागत के महापरिनिर्वाण के ठीक चार माह अनंतर ही राजगृह की प्रथम-संगीति में कर लिया गया था। शुद्ध-प्रबुद्ध बुद्ध वचनों के अनुरूप-गतिमान बुद्ध शासन को महापरिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बीत चुके थे। एक सौ वर्ष के इस अंतराल में विनय के कठोर नियमों में किंचित स्खलन अनुभव किया गया। बुद्ध शासन-प्रतिपन्न आयुष्मान यश ने वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्खुओं को विनय-विपरीत दस वस्तुओं का आचरण करते देखा, जिनमें भिक्खुओं द्वारा सोने-चांदी का ग्रहण करना भी एक था। संघ में इस पर गहन विचार-विमर्श चला। अनेक भिक्खुओं की दृष्टि में ऐसा आचरण निंदित था और अन्यों का विचार ऐसा नहीं था। अस्तु, इसका निर्णय करने के लिए वैशाली में एक सभा बुलाई गई। यह सभा आठ माह तक चलती रही। महाथेर रेवत इस महासभा के अध्यक्ष थे। इस महासभा में 700 अर्हत (थेर) भिक्खुओं ने अपनी प्रतिभागिता निभाई। लंबे विचार-विमर्श के बाद इस संगीति ने वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्खुओं के दस वस्तु संबंधी आचरण को विनय के विपरीत निर्णीत किया। इस निर्णय के अनंतर उन्होंने धर्म और विनय का संगायन किया। चूंकि इस संगीति में 700 अर्हत (थेर) सम्मिलित हुए थे, अतः बौद्ध जगत् में यह 'सप्तशतिका' संगीति के नाम से भी अभिधेय की जाती है। इतिहासकारों का निष्कर्ष है कि इस समय मगध में राजा कालाशोक राज्यारूढ था, उसकी सहायता व लोक सहयोग से यह संगायन एक ऐतिहासिक महत्त्व का बन गया। बौद्ध जगत् में इसे द्वितीय संगीति के नाम से भी अभिधेय किया जाता है। इस संगीति का एक महत्त्वपूर्ण दूरगामी प्रभाव भी पड़ा, वह था वज्जिपुत्तक भिक्खुओं द्वारा इस द्वितीय संगीति के निर्णय को अमान्य ठहराना अर्थात उन्होंने उस निर्णय को मान्यता नहीं दी। फलतः एक अन्य संगीति का आह्वान उन भिक्खुओं द्वारा किया गया।

(3) कोसम्बी संगीति—वैशाली संगीति को अमान्य करते हुए वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्खुओं ने कोसम्बी में एक पृथक संगीति का आयोजन किया और इस संगीति में उन्होंने अपने अनुकूल निर्णय निर्धारित किए। इस सम्मेलन में 10,000 भिक्खु एकत्र हुए थे। इस संगीति में जुड़ने वाले भिक्खुओं ने वैशाली की द्वितीय संगीति के 700 अर्हत (थेर) भिक्खुओं की संगीति से अपनी सभा (संघ) को बड़ा कहा एवं यह प्रतिपादित किया गया कि यह 'महासंघ' या 'महासंगीति' है। इस संगीति के निर्णयों को मानने वाले 'महासांघिक' कहलाने लगे। इस प्रकार बौद्ध धर्म में थेरवाद और महासांघिक नामक दो निकायों का प्रथम प्रकाशन इस अवधि में हो गया। महासांघिकों के अतिरिक्त भिक्खुसंघ को थेरवादी या स्थविरवादी कहा जाने लगा। स्पष्टतः ऐतिहासिक रूप में बौद्ध धर्म में निकाय भेद (Schools of thoughts) का प्रथम सूत्रपात हम यहीं पाते हैं। यह निकाय-भेदता यहीं रुकी नहीं और समय के साथ-साथ 18 प्रमुख निकायों में पल्लवित व पुष्पित होने लगी। जिसका अभिज्ञान हम उनके द्वारा रचित विभिन्न साहित्यिक व धार्मिक रचनाओं के द्वारा प्राप्त करते हैं। ये अष्टादश निकाय बौद्ध धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा

से पूर्णतः आबद्ध हैं। सभी बुद्ध वचनों को अपना पवित्र आदर्श मानते हैं, सभी बुद्ध, धम्म और संघ की शरण जाते हैं। सभी अनिच्चा, अनत्ता व दुक्खा के सार्वभौम नियमों की व्याख्या करते हैं, उनमें इन मूलभूत बातों को लेकर भेद न होकर उनकी व्याख्याओं में भिन्नता है, अस्तु, ये निकाय ही कहलाते हैं। कई बार इन निकायों के लिए 'संप्रदाय' शब्द का भी व्यवहार कर लिया जाता है। परंतु आजकल जिस संदर्भ और अर्थ में संप्रदाय शब्द का व्यवहार होता है। उस अभिप्रेतार्थ में ये संप्रदाय नहीं ही हैं, ये बौद्ध धर्म के निकाय मात्र हैं।

(4) पाटलिपुत्र संगीति—तथागत के शासन में राजा एवं रंक सभी की समान श्रद्धा थी, यह उस समय का 'लोक-धर्म' था एवं 'सद्धर्म' इस शासन का पर्याय था। सद्धर्म की इस लोक-धर्म स्थापना का प्रतिष्ठित स्वरूप महान सम्राट अशोक के समय में बहुत फला-फूला। महान सम्राट अशोक के 'बुद्ध-धर्म' में प्रविष्ट होने पर 'बुद्ध शासन' का 'धम्मचक्क' दिन दूनी और रात चौगुनी गति से प्रवर्तित होने लगा। 'बुद्ध शासनं' के प्रति लोगों का आकर्षण संसार में मान और प्रतिष्ठा का संकेत था। लोगों की बेहद होड़ 'धम्मचक मच गया' मुहावरे में अभिव्यक्त होने लगी। राज शासन करने वाला सम्राट अशोक धम्म शासन करने लगा। बौद्ध धर्म के प्रति उसकी (अनन्य) श्रद्धा एवं त्याग प्रतिदिन बुद्ध-पूजा, धर्म-पूजा, संघ-पूजा, आचार्य-पूजा और चारों ओर भैषज्य के लिए भिक्खुओं को प्रभूत महादान के रूप में उभरी। बुद्ध शासन के प्रति सम्राट की यह अनन्य श्रद्धा और सत्कार की अतुलनीय क्रियाएं अन्य मतावलंबियों को भी बुद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करने लगी थीं। फलतः शासन में निष्ठ भिक्खुओं के साथ-साथ ऐसे प्रव्रजित भिक्खुओं की भरमार भी होने लगी, जिनका प्रेय और ध्येय लाभ-सत्कार तक सीमित होकर रह गया था। बुद्ध शासन के मूलभूत आचरण से स्खलित हो वे नाना प्रकार के मतवादों से भ्रमित हो गए। सम्राट अशोक को इससे गहरी पीड़ा पहुंची। उसे ज्ञात हुआ कि पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम' विहार में 7 वर्षों तक उपोसथ तक नहीं हुआ है, तो वह धम्म पर आसन्न इन विपत्तियों के निवारण हेतु कृत संकल्प हो उठा। उसने थेर 'मोग्गलिपुत्त तिस्स' से परामर्श किया और 60 हजार प्रच्छन्न भिक्खुओं को श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से निष्कासित कर दिया। साथ ही उसने संगीति के आयोजन की मंत्रणा की व उसे अंजाम देते हुए उद्यत हुआ।

तथागत का महापरिनिर्वाण हुए 236 वर्ष व्यतीत हो चुके थे। मगध सम्राट महान अशोक के शासन काल में उसकी स्वतः अभिप्रेरणा से एक संगीति का आयोजन पाटलिपुत्र में महाथेर (महास्थविर) 'मोग्गलिपुत्त-तिस्स' की अध्यक्षता में हुआ। पाटलिपुत्र की इस संगीति में एक सहस्र भिक्खु सम्मिलित हुए। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने मिथ्यावादी 17 बौद्ध निकायों का निराकरण करते हुए कथावत्थु (कथावस्तु) नामक ग्रंथ की रचना की, जिसे 'अभिधम्म-पिटक' में स्थान मिला। यह संगीति 9 मास तक चलती रही। ऐतिहासिक रूप से यह 'तृतीय संगीति' के नाम से जानी जाती है। इस संगीति के कतिपय प्रभावों में से 'अभिधम्म-पिटक' के स्वरूप का अंतिम संधारण भी माना जाता है, साथ ही विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भिक्खुओं को भेजने का निश्चय भी इसी संगीति में हुआ। जिसका सुफल सम्राट अशोक की राज्य सीमा के भीतरी प्रांतों और बाहरी सीमा में बसे मनुष्यों ने प्राप्त किया। बौद्ध धर्म का प्रचार यवन, कंबोज, गांधार, सुवर्णभूमि (बर्मा) एवं सिंहलद्वीप (सिरीलंका) आदि देशों में हुआ। पाटलिपुत्र, जिसे आधुनिक पटना के नाम से जाना जाता है, बौद्ध धर्म के उन्नयन का प्रमुख केंद्र रहा है एवं बौद्धों की श्रद्धा का केंद्र भी। नौ महीने चली इस परिषद में त्रिपिटक संकलन का कार्य पूरा हो चुका था, कथावस्तु प्रकरण का भी निपटारा हो गया था, निकायों के 18 भेद समाप्त हो गए और लोग दुगुने उत्साह से धम्मप्रचार में लग गए। इस संगीति के बाद ही सम्राट अशोक के पुत्र महिंद (महेंद्र) व पुत्री संघमित्ता (संघमित्रा) धर्म प्रचारार्थ सिरीलंका गए।

(5) जालंधर/कश्मीर संगीति—सम्राट अशोक के बाद भारत पर कुशान वंश के शक्तिशाली सम्राट कनिष्क का शासन स्थापित हुआ। एक विदेशी का भारतीय धर्म के प्रति रुझान इस कदर बढ़ा कि वह बौद्ध धर्मानुयायी होकर अपने को धन्य कहलाने लगा। उसका साम्राज्य काबुल, गांधार, सिंध, उत्तर-पश्चिम भारत और मध्य देश तक फैला था। इतिहासकार उसके राज्य की सीमा बंगाल तक भी मानते हैं, उसके साम्राज्य की सीमाएं अशोक के विराट साम्राज्य के तुल्य बताई जाती हैं। युआन-च्वांग लिखते हैं कि कनिष्क हर रोज एक नए बौद्ध भिक्खु को बुलाता था और यह

अनुभव करता था कि हर एक मत दूसरे से भिन्न हैं। हालांकि तीसरी परिषद (पाटलीपुत्र संगीति) के साथ ही बौद्ध निकायों में व्याप्त मतभेद समाप्त हो गए थे, परंतु इनमें नई-नई संभावनाएं व महत्त्वाकांक्षाएं प्रबलित हो चुकी थीं, सम्राट कनिष्क इन से परिचित हो चुके थे, अतः उन्होंने संघ से सभा बुलाने का निवेदन किया। इस महासभा के आयोजन स्थल को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार यह परिषद जालंधर में हुई, अन्य इसे कश्मीर में संपन्न हुआ मानते हैं। जो भी हो, सम्राट कनिष्क के समय चतुर्थ ऐतिहासिक संगीति का आयोजन 100 ईसवी में हुआ। कनिष्क ने एक ऐसा विहार बनाया, जिसमें 500 भिक्खु रह सकें और पिटकों पर भाष्य लिख सकें। सम्राट कनिष्क के आग्रह पर इस संगीति ने मुख्य रूप से पिटकों पर भाष्यों की रचना की। सुत्तपिटक-भाष्य, विनय-विभाषा (विनयपिटक-भाष्य) और अभिधम्म-विभाषा (अभिधम्म पिटक-भाष्य) में से प्रत्येक में एक-एक लाख श्लोक है। युवान-च्वांग से हमें जानकारी मिलती है कि ये भाष्य रचे जाने के बाद ताम्रपत्रों पर लिखे गए और पत्थर की पेटियों में रखे गए, जो इस कार्य के लिए बनाये गए स्तूप में रख दी गईं। इस समय से ही बौद्ध धर्म में पालि के अतिरिक्त संस्कृत में भी रचनाधर्मिता का प्रारंभ माना जाता है एवं भाष्यों की परम्परा शुरू हुई।

(6) अलु-विहार (सिरीलंका) संगीति—ऐतिहासिक ग्रंथ महावंश तथा अन्य स्रोतों एवं सिंहली परंपरा के अनुसार सिरीलंका में तीन संगीतियां हुईं। प्रथम परिषद राजा देवानां पिय तिस्स के राज्य काल में (247 से 207 ईसवी पूर्व) अरिट्ठ थेर के सभापतित्त्व में हुई। ऐसा माना जाता है कि थेर महिंद (महेंद्र) के सिरीलंका में आने पर यह संगीति हुई एवं इसमें 60 हजार भिक्खु शामिल हुए। महिंद के प्रथम सिंहली शिष्य अरिट्ठ थे। उन्होंने सद्धर्म सूत्रों का पाठ अनुराधपुर के थूपाराम विहार में किया। सिरीलंका में दूसरी परिषद या संगीति सम्यक्सम्बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 450 वें वर्ष में सिरीलंका द्वीप में राजा वट्टगामणि अभय (101-77 ईसवी पूर्व) के शासन काल में हुई, सिरीलंका की परंपरा में वे इसे चौथी परिषद मानते हैं। वे कनिष्क के शासन में आयोज्य संगीति को अधिमार नहीं देते हैं। सिरीलंका में जुड़ी यह संगीति वहां के मातुल जनपद के 'अलु-विहार' अर्थात आलोक विहार में आयोजित हुई थी। अस्तु, इसे अलु-विहार या आलोक विहार संगीति के नाम से भी जाना जाता है। इसमें 500 अर्हत भिक्खु सम्मिलित हुए थे। इस संगीति की अध्यक्षता महाथेर धम्म रक्खित (महास्थविर धर्मरक्षित) ने की थी।

सिंहली परंपरा के अनुसार भगवान बुद्ध के समय से लेकर उस समय तक भगवान बुद्ध के उपदेशों का अध्ययन-अध्यापन मौखिक रूप से ही चल रहा था। अस्तु, इस संगीति में समस्त बुद्ध वचनों को प्रथम बार लिपिबद्ध किया गया। यह इस संगीति की महत्त्वपूर्ण विशेषता थी, न केवल त्रिपिटक अपितु अट्ठकथाएं भी ताम्रपत्रों पर लिखी गईं। विश्व इतिहास के प्रथम लिखित दस्तावेज के रूप में त्रिपिटक प्रतिष्ठित हुए। इस संगीति में त्रिपिटक लिपिबद्ध होने के कारण इस संगीति को 'पुस्तकारोपण-संगीति' के नाम से भी पुकारा जाता है। राजा वट्टगामणि अभय के मंत्री के द्वारा सहायता का मिलना, जन-सामान्य का सरोकार व भिक्खुओं का त्याग व प्रतिबद्धता बौद्ध धर्म के लिए आज भी इस संगीति को सर्वोत्तम बनाता है। इसके बाद भी सिरीलंका में कई संगीतियां होती रहीं, परंतु उनका विश्व स्तर पर इतना महत्त्व नहीं है, जितना अलु-विहार संगीति का है। सिंहली परंपरा के अनुसार बौद्ध संवत 516 में राजा महानाम के समय में हुई संगीति में भदंत बुद्धघोस ने सिंहली में भाष्यों का अनुवाद किया। बौद्ध संवत 1587 में राजा पराक्रम बाहु के काल में महाकास्सप की अध्यक्षता में त्रिपिटकों का पुनर्शोधन भी सिरीलंका में ही हुआ। पिछली शताब्दियों (1865 ईसवी) में सिरीलंका के रत्नपुर में हिक्कडुव सिरी सुमंगल की अध्यक्षता में एक अन्य महत्त्वपूर्ण संगीति भी हुई, जो पांच महीने तक चलती रही। इद्दमलगोद बसनायक नीलमे ने उसे संरक्षण दिया था। इस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रकाश को चहुं ओर प्रकाशित करने में सिंहल-द्वीप का अतुलनीय योगदान रहा है।

(7) थाईलैंड (स्याम) की संगीतियां—थाईलैंड के भिक्खु सोमदेज फ्रा वनराट (भदंत वनरतन) ने वहां के शासक राम प्रथम के समय में यानी बौद्ध संवत 2332 (1739 ईसवी) में संगीति वंस नामक ग्रंथ का प्रणयन किया, जो बैंकाक की नेशनल लाइब्रेरी में अभी तक भी सुरक्षित है। इस ग्रंथ का प्रकाशन राजा राम षष्ठ के आदेश से बौद्ध संवत 2466 (1923 ईसवी) में हुआ। इससे पता लगता है कि इस ग्रंथ के रचनाकाल तक दो संगीतियां वहां हो चुकी थीं। थाईलैंड के सम्राट धर्मचक्रवर्ती तिलक राजाधिराज ने चिंगमाई में बौद्ध धर्म को सुस्थिर करने के लिए एक संगीति का आयोजन

किया। थाई परंपरा के अनुसार बुद्धाब्द 2000 से 2026 के बीच महाबोधि आराम में यह परिषद या संगीति हुई थी। थाईलैंड के सब विद्वान् भिक्खु इस परिषद में सम्मिलित हुए थे। तत्पश्चात बौद्ध संवत 2331 में थाईलैंड के बैंकाक में एक दूसरी परिषद आयोजित की गई। थाईलैंड की पुरानी राजधानी अयुधिया (अयुद्ध=शांत=शांततः) आग में जल गई और कई ग्रंथ और त्रिपिटक की हस्तलिखित प्रतियां भी नष्ट हो गईं और संघ में अव्यवस्था फैल गई। फलतः राजाश्रय से 218 थेर और 32 विद्वान् जमा हुए और एक वर्ष तक त्रिपिटक का पारायण करते रहे। थाई इतिहास में इन दोनों परिषदों को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वे इसे विश्व स्तरीय आठवीं व नौवीं संगीति कहते हैं। (इससे पूर्व 3 संगीतियां, कनिष्क की संगीति को छोड़कर, भारत में तथा चौथी से सातवीं संगीतियां सिरीलंका में होना मानते हैं।)

(8) ब्रह्मा की संगीतियां—तथागत के महापरिनिर्वाण के 2415वें वर्ष में ब्रह्मा (वरमा=बर्मा=म्यंमार=ब्रह्मदेश) में वहां के राजा मिन-दोन-मिन, जिसे प्रायः 'मित्तु' के नाम से भी संज्ञेय किया जाता है, के शासन काल में एक अन्य प्रसिद्ध संगीति का आयोजन 'मांडले' नाम से प्रसिद्ध रत्नपुञ्ज नामक नगर में हुआ। इस संगीति में 2400 थेर भिक्खुओं का संगम हुआ। महाथेर जागराभिवंस, नरिंदामिधज और सुमंगलसामि के द्वारा एक के बाद एक की अध्यक्षता में सम्पन्न इस संगीति का महत्त्वपूर्ण कार्य था—त्रिपिटक की विविध प्रतियों का मिलान कर पाठ निश्चित करना। महाथेर जागराभिवंस, स्थविर दक्षिणारामवासी त्रिपिटकधर भदंत जागर की अध्यक्षता में इस संगीति ने समस्त बुद्ध-वचनों का संगमरमर की 729 शिलाओं पर उत्कीर्णन करवाया। यह कार्य राजमहल में पांच महीने तक चलता रहा। विश्व इतिहास में इस अद्वितीय कार्य के लिए इस संगीति को 'शिलाक्षरोपण-संगीति' के नाम से भी अभिधेय किया जाता है। भारत में संपन्न प्रथम तीन संगीतियां (कनिष्क द्वारा आयोज्य संगीति को स्थान-संशय के कारण छोड़ दिया गया), सिरीलंका के राजा वट्टगामणि अभय के शासन काल में आयोज्य संगीति के बाद इसको विश्वस्तरीय अद्वितीय स्थान मिला एवं इसे पंचम संगीति के नाम से भी अभिधेय किया जाता है।

तथागत बुद्ध के शासन की अविकल-अनवरत प्रकाश किरणें सारे विश्व में व्याप्त होने पर त्रिपिटक के पुनः संगायन की आवश्यकता ब्रह्मा के महाथेर भिक्खुओं ने अनुभूत की। विभिन्न देशों में प्रचलित त्रिपिटक साहित्य एवं देशना में प्रमादवश किंचित परिवर्तन दृष्टिगोचर होने पर ब्रह्मा के महाथेर भिक्खुओं के आग्रह पर ब्रह्मा के तत्कालीन प्रधानमंत्री 'ऊ नू' द्वारा संस्थापित बुद्ध शासन समिति ने देश-विदेश के अनेक गणमान्य विद्वानों और भिक्खुओं को इस विषय पर विचार करने के लिए आमंत्रित किया। उन भिक्खुओं और विद्वानों ने बहुजन के हित एवं सुख के लिए संगायन का आयोजन किया। जिसे विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा मिली एवं इसे छठी संगीति का दर्जा मिला। यह संगीति बर्मा की राजधानी 'रंगून' में 'सिरीमंगल' नामक स्थान पर लोकशम (कम्माए) नामक चैत्य के समीप इसी कार्य के लिए नवनिर्मित महापाषाण शैल गुफा में आयोजित की गई। अभिधज महारथ गुरु भदंत रेवत इसके सभापति थे। इसमें ब्रह्मा के 500 भिक्खुओं सहित देश-विदेश के 2500 भिक्खुओं ने त्रिपिटक का संशोधन कर संगायन किया। बैशाख, 1956 ईसवी यानी बुद्ध महापरिनिर्वाण की 2500वीं जयंती तक यह संगीति त्रिपिटक शोधन का कार्य कर रही थी। भिक्खुओं के अलावा कई गणमान्य विद्वानों की भागीदारी भी इस संगीति की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस संगायन के शुभारंभ पर भारत के राष्ट्रपति माननीय डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए, अपने संदेश में कहा—"आज की भटकी हुई मानव जाति में यह संगायन पुनः शांति और सद्भावना संदेश प्रचारित करेगा।" वहीं भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू जी ने इसकी आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए, अपने संदेश में कहा—"शायद पुराने इतिहास में कभी भी बुद्ध के शांति के संदेश की इतनी जरूरत नहीं थी, जितनी कि आज की पीड़ित और भटकी हुई मानव जाति को है।" बोधिसत्व बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर रंगून कॉन्फ्रेंस में उपस्थित हुए एवं धर्म-धज्जा (धर्मध्वज के धर्म की पताका) को फहराने हेतु कृत-संकल्प हुए। इस संगीति द्वारा समेकित त्रिपिटक का विभिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में आज पूरे वेग के साथ भाष्यांतरण, अध्ययन एवं अनुशीलन हो रहा है, जो सद्धर्म के उन्नयन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

बुद्ध देशना साहित्य

यह सर्व विदित है कि बुद्ध देशना का विशाल भंडार है। तथागत सम्यक्सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट देशना 'बुद्ध-वचन'

कहा जाता है। इन बुद्ध-वचनों का संगायन समय-समय पर किया जाता रहा है, ऐसा हम पूर्व में बता चुके हैं। बुद्ध-वचनों की सुरक्षा की दृष्टि से उपर्युक्त संगीतियों में तथागत की देशना का संगायन किया जाता है एवं उनका विभिन्न भागों में वर्गीकरण भी किया जाता रहा है। वर्गीकरण का सबसे प्राचीन एवं सर्वमान्य वर्गीकरण 'त्रिपिटक' नाम से संज्ञेय किया जाता है, जिसे प्रथम संगीति में ही प्रतिष्ठित कर दिया गया था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि अभिधर्म पिटक की रचना प्रथम संगीति के बाद की है, क्योंकि चुल्लवग्ग में 'धम्मं च विनयं च संगायाम' पठित है, परंतु उनकी यह धारणा उस समय खंडित हो जाती है, जब हम आचार्य बुद्धघोस द्वारा लिखित अट्ठकथाओं का अवधान करते हैं। आचार्य बुद्धघोस ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही 'अभिधर्म-पिटक' के संगायन का स्पष्ट उल्लेख किया है। चीनी यात्री ह्वेन सांग इसकी पुष्टि करते हैं। अतः वर्तमान त्रिपिटक प्रथम संगीति में संगृहीत बुद्धवचन ही है, तीनों पिटक उसी समय के हैं। सबका आधारभूत स्वरूप राजगृह संगीति का संगायन ही है एवं वे उसी समय के हैं।

तथागत बुद्ध की देशना या यों कहें बुद्ध-वचनों के वर्णनानुसार वर्गीकरण करने से इन देशनाओं को भिन्न-भिन्न नामों से अभिधेय किया जाता है। त्रिपिटक के संदर्भ में इस पर कुछ प्रकाश हम पूर्व में डाल चुके हैं एवं त्रिपिटक साहित्य पर कुछ प्रकाश डालें, इससे पूर्व वर्गीकरण के विभिन्न आधारों पर संक्षिप्त जानकारी इस विषय को समझने में सहायक होगी, अस्तु उनका संक्षिप्त निरूपण किया जाएगा। आचार्य बुद्धघोस के अनुसार प्रथम तीन पिटक, पांच निकाय, नौ अंग और 84,000 धर्मस्कंधों में स्पष्ट विभाजन किया है। ये आधार क्या हैं व त्रिपिटक साहित्य इसमें किस प्रकार से अभिधेय है, इसी दृष्टि से उनका वर्णन त्रिपिटक वर्गीकरण से पूर्व में किया जा रहा है।

निकाय भेद

आचार्य बुद्धघोस ने त्रिपिटक को 'पञ्च निकाय' भी कहा है। यह त्रिपिटक के वर्गीकरण का एक तरीका है, जिसमें समस्त बुद्ध-वचनों को 5 निकायों में संगृहीत किया जाता है, वे हैं—(1) दीघनिकाय, (2) मज्झिमनिकाय, (3) संयुत्तनिकाय, (4) अंगुत्तरनिकाय और (5) खुद्दकनिकाय। त्रिपिटक वर्गीकरण में सुत्तपिटक के पूर्वोक्त चारों निकाय दीघ से अंगुतर तक तो एक-एक निकाय हैं एवं उनकी प्रतिपाद्य विषयवस्तु व भाग वही है, परंतु खुद्दकनिकाय की विषय सामग्री इस वर्गीकरण में वही नहीं रहती है, जो सुत्तपिटक है। निकाय वर्गीकरण में खुद्दकनिकाय में सुत्त पिटक के खुद्दकनिकाय की पुस्तकें यथा खुद्दक-पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसंभिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस, चरियापिटक आदि 15 ग्रंथों के साथ विनयपिटक व अभिधर्मपिटक के ग्रंथ भी संगृहीत गिने जाते हैं। अतः समस्त त्रिपिटक पंच निकायों में भी अभिसंज्ञेय किया जाता है।

अंग-वर्गीकरण

बुद्ध-वचनों के नौ अंग माने जाते हैं, यथा सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल। सुत्त का अर्थ सामान्यतः बुद्ध का उपदेश है, दीघनिकाय, सुत्तनिपात, निद्देस, खंधक, परिवार आदि जो गद्य में है, ये सब 'सुत्त' कहलाते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित अंश 'गेय्य' कहलाते हैं। गाथाओं (पद्य) से युक्त सूत्र 'गेय्य' हैं, विशेषतः संयुत्तनिकाय में संपूर्ण सगाथक वर्ग 'गेय्य' है। 'वेय्याकरण' वस्तुतः व्याख्यापरक साहित्य का नाम है। अभिधम्मपिटक तथा अन्य ऐसे ही अंशों में सन्निहित साहित्य 'वेय्याकरण=व्याकरण=विवरण=विवेचन' कहा जाता है। मात्र पद्य में रचित अंश 'गाथा' कहलाते हैं। धम्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा आदि पद्य में रचित अंश 'गाथा' हैं। सौमनस्य और ज्ञान से युक्त होकर समय-समय पर भगवान के मुख से गाथा के रूप में उद्बोधित हुए भावनामय-प्रीति उद्गार 'उदान' कहे जाते हैं। 'वुत्तं हेतं भगवता' अर्थात भगवान ने ऐसा कहा इत्यादि प्रकार से प्रवृत 110 सूत्रांत 'इतिवुत्तक' है। 'जातक' का अर्थ भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएं हैं। अपण्णक आदि 550 कथाएं जातक हैं। उन सुत्तों को जिनमें अद्भुत वस्तुओं का योग संबंधी विभूतियों का निरूपण है, 'अब्भुतधम्म' कहते हैं यथा चत्तरो में भिक्खवे ! अच्छरिया अब्भुतधम्मा आनंदे' (भिक्खुओ ! आनंद में ये चार आश्चर्यजनक अद्भुत धर्म हैं) इत्यादि प्रकार से प्रवृत अद्भुत वस्तुओं का निरूपण करने वाले सूत्रांत 'अब्भुतधम्म' है। प्रश्न और उत्तर के रूप में लिखे गए ज्ञान पर आधारित उपदेश 'वेदल्ल' कहे जाते हैं। मज्झिमनिकाय के चुल्लवेदल्ल, महावेदल्ल, सम्मादिट्ठि तथा सक्कपञ्ह आदि सूत्र इस विभाग

के अंतर्गत आते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध-वचनों का यह नौ प्रकार का संग्रह विषय की दृष्टि से है, न कि ग्रंथों की दृष्टि से।

चौरासी हजार धर्मस्कंध

तथागत की देशना का यह वर्गीकरण चौरासी हजार धर्मस्कंधों के रूप में है, इसमें बुद्ध देशना अर्थात समस्त बुद्ध-वचनों को 84,000 धर्मस्कंधों में विभक्त किया जाता है। धर्मों के विभाजन की इस परंपरा को मानने वाले 'विभज्यवादी' भी पुकारे गए हैं। महान सम्राट अशोक द्वारा 84,000 स्तूपों के निर्माण का भी आधार यह धर्मस्कंध का व्यवस्थापन ही है। बौद्धों के प्रसिद्ध सिद्धों की संख्या को चौरासी तक सीमित करने का आधार भी यह 84,000 धर्मस्कंध ही हैं। एक अनुसंधिवाला सूत्र एक धर्मस्कंध होता है, जिसमें अनेक अनुसंधियां होती हैं, वहां अनुसंधियों के आधार पर धर्मस्कंधों की गणना की जाती है। उदाहरणार्थ गाथाबद्ध देशना में 'प्रश्न' एक धर्मस्कंध होता है और उसका 'उत्तर' दूसरा धर्मस्कंध होता है। अभिधर्म में तिक् पट्ठान, दुकपट्ठान आदि पृथक्-पृथक् धर्मस्कंध होते हैं। विनय-पिटक में वत्थु, मातिका, पदभाजनिय, आपत्ति, अनापत्ति, अंतरापत्ति आदि धर्मस्कंधों का संग्रह है अर्थात चौरासी हजार धर्मस्कंध होते हैं। यह संज्ञेय किया गया है कि इन 84,000 धर्मस्कंधों में 82,000 धर्मस्कंध भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट हैं एवं 2,000 धर्मस्कंध सारिपुत्र आदि भिक्खुओं के वचन हैं।

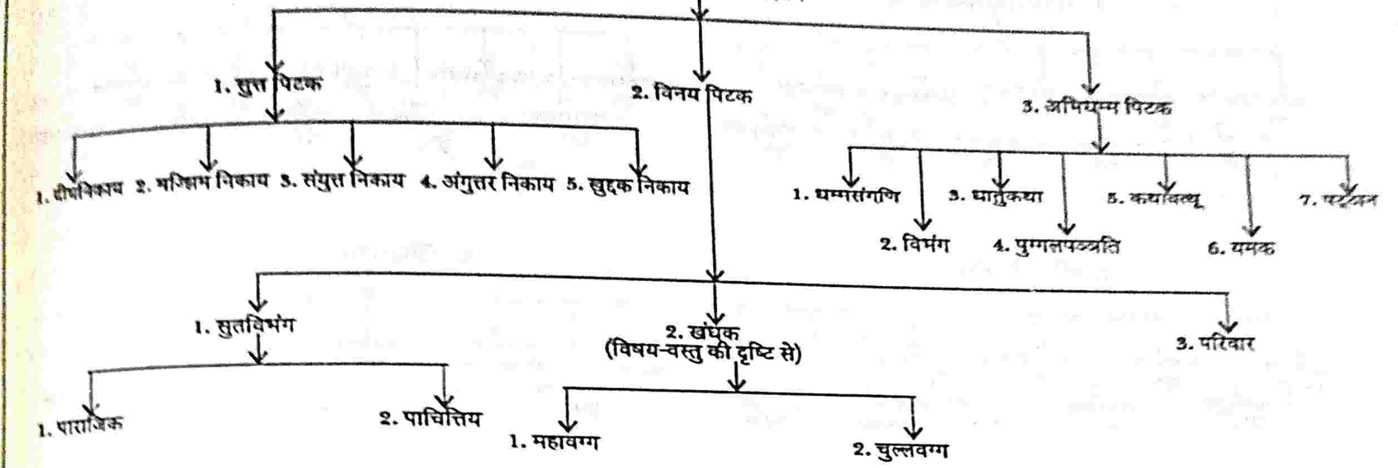
त्रिपिटक

बुद्ध देशना के उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त एक सर्वसंज्ञात वर्गीकरण 'त्रिपिटक' कहा जाता है। इसकी पुष्टि स्वयं त्रिपिटक, अशोक के शिलालेख एवं मिलिंद प्रश्न आदि ग्रंथ से होती है। पिटक का सामान्य अर्थ 'पिटारी' है। बुद्ध-वचनों के संग्रह को प्राचीनकाल से ही विषयानुसार तीन पिटारियों या विभागों में रखने की परंपरा से प्रादुर्भूत यह वर्गीकरण माना जाता है। इस वर्गीकरण में विनय, सुत्त और अभिधम्म तीन विभाग होते हैं। अस्तु, उन्हें विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक कहा जाता है। **विनय** का अर्थ 'अनुशासन' है। इसमें भिक्खु व भिक्खुणियों के आचरण संबंधी (कर्त्तव्य) प्रज्ञप्त होते हैं। इसे बुद्ध शासन की 'आयु' कहा जाता है। धार्मिक दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है, यह अभिधेय है कि विनय संबंधी नियमों को लेकर ही अष्टादश निकाय भेद हुआ था। साधारण गृहस्थ भी अपने सामाजिक व्यवहार में उन शिक्षाओं को यथोचित अपनाने का प्रयत्न भगवान बुद्ध के समय से ही करता रहा है। बौद्ध समाज व्यवस्था पर इसका गहरा असर पड़ा है। **सुत्तपिटक** या सूत्रपिटक में विनय से भिन्न लोकनाथ बुद्ध की सामान्य देशना का संग्रह है। यह पांच निकायों में संगृहीत है। इन्हें 'आगम' भी कहा जाता है। धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से इसका सर्वाधिक प्रभाव आम-जीवन पर पड़ा एवं लोक इससे अनुरंजित व अनुप्रेरित होता है। धर्म की गूढ़ बातों को बड़े सरल तरीके से इन देशनाओं में उपदिष्ट किया गया है। 'धम्मपद' इसी पिटक में संगृहीत रचना है। **अभिधर्म-पिटक**—यह संग्रह सात प्रकरणों में विभक्त है, इनमें गंभीर व दुर्बोध दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध होता है। अभिधम्म शब्द की व्याख्या से स्पष्ट है कि यह विशेष (अभि) परियत्ति धम्म (धम्म) है। अभि या विशेष का प्रयोग चार अर्थों में संज्ञेय किया जाता है यथा निर्वाण के अभिमुख होने के कारण, धर्म का विविध वर्गीकरण करने के कारण, विरोधी मतों के अभिभव के कारण तथा सूत्रों के सिद्धांत का अनुगमन करने के कारण।

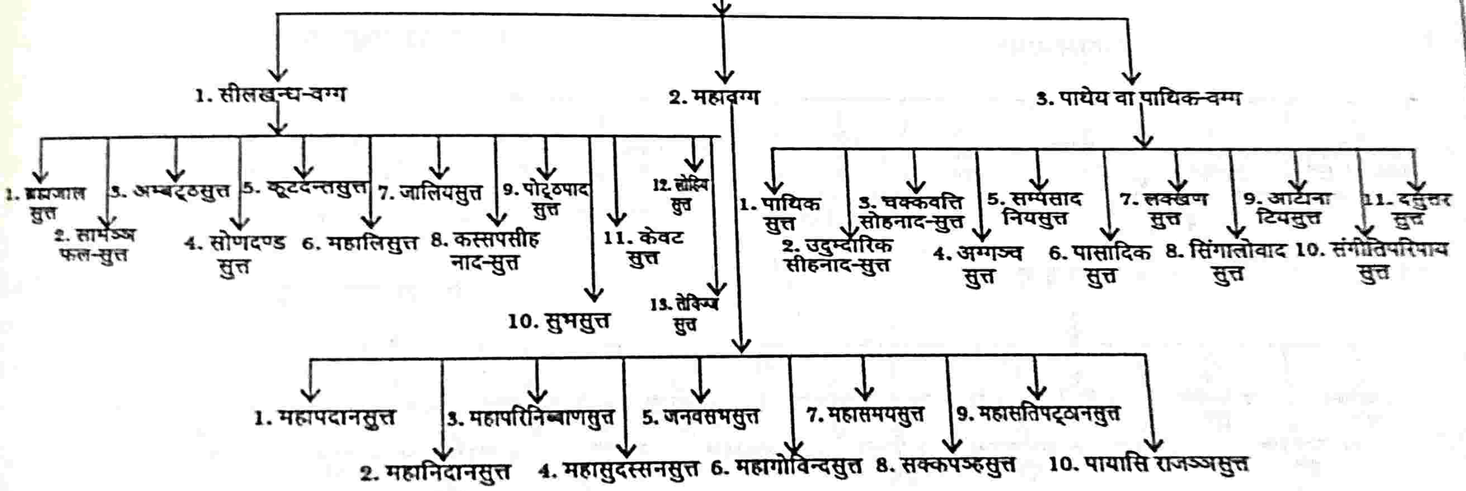
पालि या पिटक साहित्य

बुद्ध देशना के उपर्युक्त सभी वर्गीकरण प्रथम संगीति के समय से ही व्यवहार्य है अर्थात पिटक, निकाय, अंग और धर्मस्कंध वर्गीकरण अत्यंत प्राचीन है। यह पूरी देशना पालि भाषा में है। बुद्ध निर्वाण काल से लेकर प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व तक के पालि साहित्य को 'पालि-साहित्य' भी कहा जाता है एवं प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के बाद के साहित्य को अनुपिटक साहित्य कहा जाता है। उन सब पर विवेचन यहां अपेक्षित नहीं है, परंतु त्रिपिटक साहित्य के वर्गीकरण की एक झलक प्राप्त करने के लिए उनको सारिणी रूप में प्रस्तुत करना उचित रहेगा—

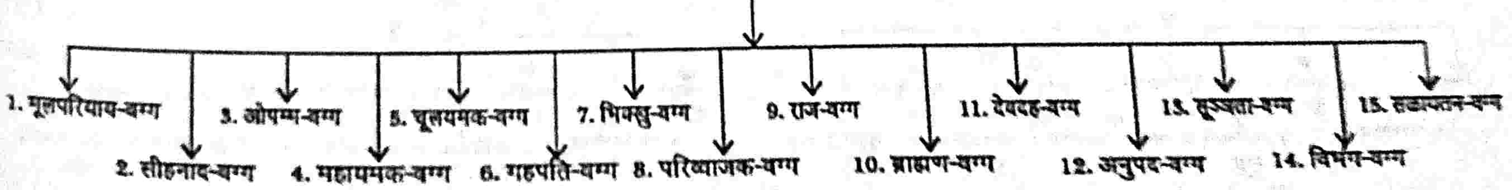
पालि या पिटक-साहित्य

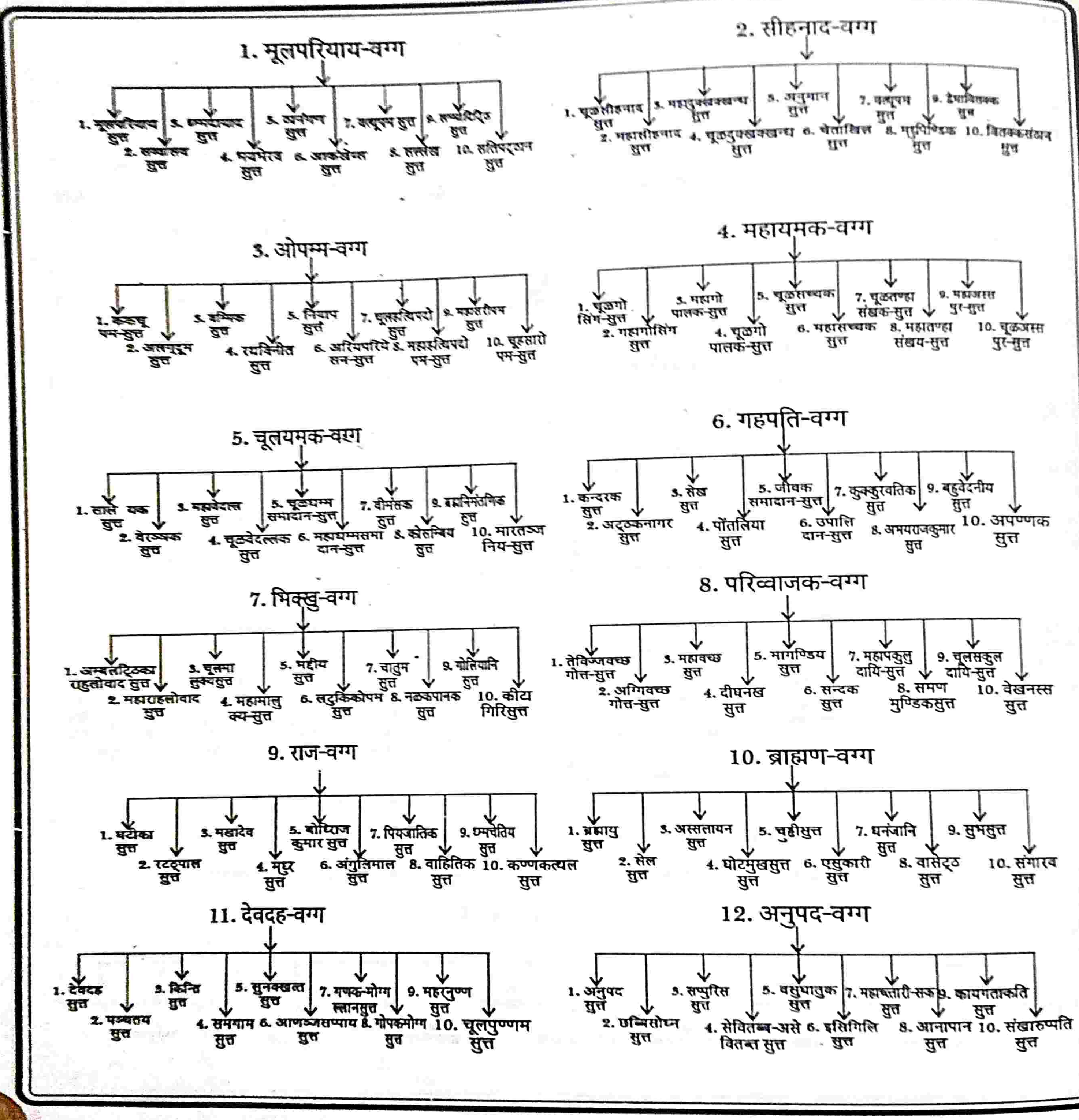


1. दीघनिकाय



2. मज्झिमनिकाय




1. मूलपरियाय-वग्ग
2. सीहनाद-वग्ग
5. अनुमान सुत्त
7. वत्थूपम सुत्त
6. चेतोखिल सुत्त
10. वितक्कसंठान सुत्त
3. ओपम्म-वग्ग
5. निवाप सुत्त
4. रथविनीत सुत्त
6. अरियपरियेसन-सुत्त
8. महासारोपम-सुत्त
10. चूळसारोपम-सुत्त
4. महायमक-वग्ग
1. चूळगोसिंग-सुत्त
2. महागोसिंग सुत्त
3. महागोपालक-सुत्त
4. चूळगोपालक-सुत्त
5. चूळसच्चक सुत्त
6. महासच्चक सुत्त
7. चूळतण्हासंखय-सुत्त
8. महातण्हासंखय-सुत्त
9. महाअस्सपुर-सुत्त
10. चूळअस्सपुर-सुत्त
5. चूलयमक-वग्ग
5. चूळधम्मसमादान-सुत्त
6. महाधम्मसमादान-सुत्त
7. वीमंसक सुत्त
10. मारतज्जनिय-सुत्त
6. गहपति-वग्ग
1. कन्दरक सुत्त
2. अट्ठकनागर सुत्त
3. सेख सुत्त
4. पोतलिय सुत्त
5. जीवक सुत्त
6. उपालि सुत्त
7. कुक्कुरवतिक सुत्त
8. अभयराजकुमार सुत्त
9. बहुवेदनीय सुत्त
10. अपण्णक सुत्त
7. भिक्खु-वग्ग
1. अम्बलट्ठिका राहुलोवाद सुत्त
2. महाराहुलोवाद सुत्त
3. चूळमालुक्य सुत्त
4. महामालुक्य-सुत्त
5. भद्दालि सुत्त
6. लटुकिकोपम सुत्त
7. चातुम सुत्त
8. नळकपान सुत्त
9. गोलियानि सुत्त
10. कीटागिरि सुत्त
8. परिव्वाजक-वग्ग
1. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त
2. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त
3. महावच्छ सुत्त
4. दीघनख सुत्त
5. मागण्डिय सुत्त
6. सन्दक सुत्त
7. महासकुलुदायि-सुत्त
8. समणमुण्डिक सुत्त
9. चूळसकुलुदायि-सुत्त
10. वेखनस्स सुत्त
9. राज-वग्ग
1. घटीकार सुत्त
2. रट्ठपाल सुत्त
3. मखादेव सुत्त
4. मधुर सुत्त
5. बोधिराजकुमार सुत्त
6. अंगुलिमाल सुत्त
7. पियजातिक सुत्त
8. बाहितिक सुत्त
9. धम्मचेतिय सुत्त
10. कण्णकत्थल सुत्त
10. ब्राह्मण-वग्ग
1. ब्रह्मायु सुत्त
2. सेल सुत्त
3. अस्सलायन सुत्त
4. घोटमुखसुत्त
5. चङ्कीसुत्त
6. एसुकारी सुत्त
7. धनंजानि सुत्त
8. वासेट्ठ सुत्त
9. सुभसुत्त
10. संगारव सुत्त
11. देवदह-वग्ग
1. देवदह सुत्त
2. पञ्चत्तय सुत्त
3. किन्ति सुत्त
4. सामगाम सुत्त
5. सुनक्खत्त सुत्त
6. आणञ्जसप्पाय सुत्त
7. गणकमोग्गल्लानसुत्त
8. गोपकमोग्गल्लान सुत्त
9. महापुण्ण सुत्त
10. चूलपुण्णम सुत्त
12. अनुपद-वग्ग
1. अनुपद सुत्त
2. छब्बिसोधन सुत्त
3. सप्पुरिस सुत्त
4. सेवितब्ब-असेवितब्ब सुत्त
5. बहुधातुक सुत्त
6. इसिगिलि सुत्त
7. महाचत्तारीसक सुत्त
8. आनापान सुत्त
9. कायगतासति सुत्त
10. संखारुप्पत्ति सुत्त

13. सूञ्ञता-वग्ग

1. चूल-सुञ्ञता सुत्त
2. महासुञ्ञता सुत्त
3. अच्छरीयब्भुत धम्म-सुत्त
4. बक्कुल सुत्त
5. दन्तभूमि सुत्त
6. भूमिज सुत्त
7. अनुरु(सुत्त
8. उपक्किलेस सुत्त
9. बालपण्डित सुत्त
10. देवदूत सुत्त

14. विभंग-वग्ग

1. भद्देकरत्त सुत्त
2. आनन्द-भद्दे सुत्त
3. महाविज्ञान भद्दकररतसुत्त
4. लोमसकंगिय भद्देकरसुत्त
5. चूलकम्म विभंगसुत्त
6. महावम्म सुत्त
7. सलायतन विभंगसुत्त
8. उद्देसवि भंगसुत्त
9. अरणविभंग सुत्त
10. सच्चविभंग सुत्त
11. दक्खिणा विभंगसुत्त
12. दक्खिणा विभंगसुत्त

15. सळायतन-वग्ग

1. अनाथपिण्डिकोवाद सुत्त
2. छन्नोवाद सुत्त
3. पुण्णोवाद सुत्त
4. नन्दकोवाद सुत्त
5. चूळराहुलो सुत्त
6. छछक्क सुत्त
7. महासलायतनिक सुत्त
8. नगरविन्देय्य सुत्त
9. पिण्डपातपारिसुद्धि सुत्त
10. इन्द्रियभावन सुत्त

3. संयुत्त-निकाय

1. सनाथवग्ग
2. निदानवग्ग
3. खन्धवग्ग
4. स्ळायतनवग्ग
5. महावग्ग

1. सनाथवग्ग

1. देवता संयुत्त
2. देवपुत्तसंयुत्त
3. कोसलसंयुत्त
4. मारसंयुत्त
5. भिक्खुणी संयुत्त
6. ब्रह्मसंयुत्त
7. ब्राह्मण संयुत्त
8. वंगीससंयुत्त
9. वनसंयुत्त
10. वक्खसंयुत्त

2. निदानवग्ग

1. निदान संयुत्त
2. अभिसमयसंयुत्त
3. धातुसंयुत्त
4. अनमतग्ग संयुत्त
5. कस्सप संयुत्त
6. लाभसक्कार संयुत्त
7. राहुल संयुत्त
8. लक्खण संयुत्त
9. ओपम्म संयुत्त
10. भिक्खु संयुत्त

3. खन्धवग्ग

1. खन्ध संयुत्त
2. राघ संयुत्त
3. दिट्ठि संयुत्त
4. ओक्कन्तिक संयुत्त
5. उप्पाद संयुत्त
6. किलेस संयुत्त
7. सारिपुत्त संयुत्त
8. नाग संयुत्त
9. सुप्पण संयुत्त
10. गन्धब्ब संयुत्त
11. वलाह संयुत्त
12. वच्छगोत्त संयुत्त
13. झाम संयुत्त

4. स्ळायतनवग्ग

1. सलायतन संयुत्त
2. वेदना संयुत्त
3. मातुगाम संयुत्त
4. जम्बुखादक संयुत्त
5. सामण्डक संयुत्त
6. मोग्गलान संयुत्त
7. चित्त संयुत्त
8. गामणि संयुत्त
9. असंखत संयुत
10. अव्याकत संयुत्त

5. महावग्ग

1. मग्ग संयुत्त
2. बोज्झंग संयुत्त
3. सतिपट्ठान संयुत्त
4. इन्द्रिय संयुत्त
5. सम्मपधान संयुत्त
6. बल संयुत्त
7. इद्धिपाद संयुत्त
8. अनुरुद्ध संयुत्त
9. झान संयुत्त
10. आना पानसंयुत्त
11. सोता पत्तिसंयुत्त
12. सच्चसंयुत्त

4. अंगुत्तर-निकाय

1. एक-निपात
2. दुक-निपात
3. तिक-निपात
4. चतुक्क-निपात
5. पंचक निपात
6. छक्क निपात
7. सत्तक निपात
8. अट्ठक निपात
9. नवक निपात
10. दसक निपात
11. एकादसक निपात

5. खुद्दक-निकाय

1. खुद्दकपाठ
2. धम्मपद
3. उदान
4. इतिवुत्तक
5. सुत्तनिपात
6. विमानवत्थु
7. पेतवत्थु
8. थेरगाथा
9. थेरीगाथा निपात
10. जातक
11. निद्देस
12. पटिसम्भिदामग्ग
13. अपदान
14. बुद्धवंस
15. चारियापटिक

धम्मपद

1 से 26 वग्ग

1. यमक वग्गो 2. अप्पमाद वग्गो 3. चित्त वग्गो 4 . पुप्फ वग्गो 5 . बाल वग्गो 6 . पण्डित वग्गो 7. अरहन्त वग्गो 8. सहस्स वग्गो 9. पाप वग्गो 10. दण्डवग्गो 11. जरा वग्गो 12. अत्त वग्गो 13. लोक वग्गो 14. बुद्ध वग्गो 15. सुख वग्गो 16. पिय वग्गो 17. कोध वग्गो 18. मल वग्गो 19. धम्मट्ठ वग्गो 20 मग्ग वग्गो 21. पकिण्ण वग्गो 22. निरय वग्गो 23. नाग वग्गो 24 . तण्हा वग्गो 25 . भिक्खु वग्गो 26 . ब्राह्मण वग्गो

धम्मपद—त्रिपिटिक के सूत्रपिटक (सुत्तपिटक) का पांचवां भाग खुद्दकनिकाय कहा जाता है। खुद्दकनिकाय सुत्तों का संग्रह नहीं है, अपितु छोटे-छोटे ग्रंथों का स्वतंत्र संग्रह है। इस निकाय में संगृहीत कुछ ग्रंथ पद्यात्मक हैं एवं कुछ ग्रंथ गद्य-पद्य मिश्रित हैं। इसमें 15 ग्रंथ संगृहीत हैं। बुद्धघोस के अनुसार 15 ग्रंथ इस प्रकार हैं—(1) खुद्दक पाठ, (2) **धम्मपद**, (3) उदान, (4) इतिवुत्तक, (5) सुत्तनिपात, (6) विमानवत्थु, (7) पेतवत्थु, (8) थेर गाथा, (9) थेरी गाथा, (10) जातक, (11) निद्देस, (12) पटिसम्भिदामग्ग, (13) अपदान, (14) बुद्धवंस और (15) चरियापिटक। स्पष्टतः धम्मपद खुद्दकनिकाय का दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ है। धम्मपद न केवल बौद्ध साहित्य का सबसे लोकप्रिय ग्रंथ है, बल्कि यह विश्व साहित्य की सर्वाधिक ख्याति प्राप्त कृति है। न केवल भारत में अपितु विश्व के कोने-कोने में सर्वाधिक मान्यता व श्रद्धा से यह ग्रंथ आज भी पढ़ा व परखा जाता है। सिरीलंका देश में आज भी, उपसंपदा से पूर्व **'धम्मपद'** का पारायण करना प्रत्येक भिक्खु की अवश्य इतिकृर्तव्यता में सम्मिलित है। अर्थात् किसी भी भिक्खु की तब तक उपसंपदा नहीं होती है, जब तक वह **'धम्मपद'** का पारायण नहीं कर लेता। कारण स्पष्ट है, संपूर्ण पालि-साहित्य में बुद्ध-वचनों को जितना अच्छा 'धम्मपद' में संगृहीत किया गया है, उतना कहीं दूसरे ग्रंथ में संगृहीत नहीं है। **'धम्मपद'** अकेला ऐसा ग्रंथ है, जिसमें बौद्ध धर्म एवं दर्शन के प्रायः सभी प्रमुख सिद्धांतों का वर्णन है। इसमें नैतिक सदाचार, दुखमय संसार से त्राण पाने के उपाय, चार आर्यसत्य, आर्य आष्टांगिक मार्ग, निर्वाण प्राप्ति के उपाय आदि का विस्तृत एवं सुबोध वर्णन मिलता है। अस्तु, बौद्ध धर्म में तो इसका निर्विवाद स्थान सर्वोपरि है ही, साथ ही इसकी प्रत्येक गाथा मानव धर्म के सारतत्व से ओत-प्रोत है। अस्तु, समग्र मानव जाति के लिए यह अनुकरणीय एवं वंदनीय कृति है। इन गाथाओं को सुनकर आज तक विश्व के अनगिनत दुख संतप्त प्राणी इस भव प्रपञ्च से सरलतया मुक्त हो चुके हैं।

'इस ग्रंथ का भारत में तेरहवीं शताब्दी तक श्रीमद्‌भगवत गीता की तरह ही प्रचार था।' बौद्ध जगत् में आज भी इसको वही स्थान प्राप्त है। लोक जीवन में धम्मपद की गहरी पैठ रही है। इसकी गाथाओं में शील, समाधि, प्रज्ञा एवं निर्वाण आदि का इतनी सुरुचिपूर्ण विधि से वर्णन हुआ है कि इन्हें पढ़ने वाला जिज्ञासु शीघ्र ही अनुपम अद्‌भुत संवेग (भवमुक्ति हेतु व्यग्रता), धर्मरस, शांति, ज्ञान एवं संसार के प्रति निर्वेद (ग्लानि) अनुभव करने लगता है और इसको पढ़ते-पढ़ते उसके मुख से त्रिरत्न (बुद्ध, धम्म, संघ) के प्रति विवशतः यह श्रद्धोद्‌गार निकल पड़ता है—"उपासकं मं भवं धारेतु,. अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं ति।" स्वामी द्वारिकादास शास्त्री के शब्दों में—"यह ग्रंथ आध्यात्मिक भारतीय वाङ्मय का शिरोमणि है।" ऐसे शिरोमणि ग्रंथ में न केवल भारतीय संस्कृति के प्रायः सभी नैतिक आदर्श संगृहीत हैं, बल्कि संपूर्ण मानव संस्कृति के उदात्त गुणों का खजाना गवेषित है।

विश्व इतिहास का प्रथम लिखित पुरातत्त्व दस्तावेज—मूल 'धम्मपद' की भाषा पालि है। इसका अनुवाद विश्व की प्रायः सभी भाषाओं एवं बोलियों में हुआ है। इस अर्थ में यह एक अद्वितीय कृति है। विश्व में जब छापाखाना (प्रिंटिंग प्रेस) का अविष्कार हुआ तो प्रेस से छपने वाली जो प्रथम पुस्तक थी, वह भी धम्मपद ही था। इसके साथ ही विश्व के सबसे प्राचीन पुरातत्त्व लिखित दस्तावेजों में भी यह सबसे प्राचीन है। खोतान (अफगानिस्तान) के एक स्तूप से भोजपत्र पर लिखी 'धम्मपद' की पुस्तक मिली है। जार्ज बुयलर का मत है कि "धम्मपद की यह प्रति संभवतः कुषाण काल में गांधार में लिखी गई थी। इस पुस्तक में जिस उपभाषा (Dialect) का प्रयोग हुआ है, वह अशोक के शाहबाजगढ़ी के आदेश-लेखों की उपभाषा से काफी मिलती-जुलती है। वारडक कलश के अक्षरों से इसके अक्षरों का निकट साम्य है।" खोतान से प्राप्त हस्तलिखित धम्मपद में पंक्तियां सीधी और समानांतर हैं। खोतान के खरोष्ठी धम्मपद में प्रत्येक पंक्ति में एक गाथा लिखी गई है और पादों को अलग करने के लिए रिक्त स्थान छोड़ दिया गया है। खरोष्ठी के अभिलेखों में विरामादि चिन्हों का इस्तेमाल नहीं होता, किंतु खोतान के धम्मपद में प्रत्येक गाथा के अंत में एक गोल चिन्ह प्रायः लापरवाही से बनाते हैं। यह चिन्हो आधुनिक शून्य से मिलता है। प्रत्येक वग्ग के अंत में एक ऐसा चिन्ह मिलता है, जो कमल का प्रतीक है। भोजपत्र किंवा भुर्जपत्र पर मिलने वाले दस्तावेजों में दुनिया की सबसे प्राचीन कृति खरोष्ठी में लिखी यह धम्मपद की कृति ही है। इसके बाद मिलने वाले कश्मीर के ग्रंथ हैं,

जो पूना, लंदन, ऑक्सफोर्ड, वियना, बर्लिन नगर/देशों आदि के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। ये बहुत बाद के हैं, इनमें शायद ही कोई ऐसा ग्रंथ हो, जो 15वीं शती से पुराना हो।

धम्मपद के कुछ प्राचीन विशिष्ट संस्करण—धम्मपद के पालि के अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं में भी प्राचीन संस्करण मिलते हैं। जिसमें प्राकृत धम्मपद खरोष्ठी लिपि में मिलता है। यह खोतान से खंडित रूप में प्राप्त हुआ है। इसका प्रथम संपादन एक फ्रेंच विद्वान ई. सेनां ने किया। इस धम्मपद के वर्गों की गाथाएं पालि भाषा में प्राप्त धम्मपद से अधिक हैं। 'धम्मपद' के संस्कृत या मिश्रित संस्कृत के संस्करण का पता हमें 'महावस्तु' से प्राप्त होता है। विशुद्ध संस्कृत में रचित 'धम्मपद' का खंडित रूप 'तुर्फान' से प्राप्त हुआ है। इस ग्रंथ में 33 अध्याय (वग्ग) हैं अर्थात पालि धम्मपद से 7 अधिक। इस संस्करण का सन् 817-842 ईसवी में तिब्बती भाषा में भी अनुवाद हुआ था। रॉकहिल ने इसका अनुवाद 'उदान वर्ग' शीर्षक से किया है। 'धम्मपद' के प्राचीन चीनी संस्करण भी मिलते हैं। पहले संस्करण का नाम है **फा-ख्यु-किंग**। इस धम्मपद को वी-ची-लेन (Wei-chi-lan) ने चीन में अनुवाद किया। यह अनुवाद सन् 223 ईसवी में किया गया था। इसमें भी पालि धम्मपद की अपेक्षा अध्याय (वग्ग=वर्ग) अधिक हैं और गाथाएं भी अधिक हैं। जैसा कि हम जानते हैं पालि धम्मपद में 26 वग्ग (वर्ग=अध्याय) और 423 गाथाएं है। फा-ख्यु-किंग (चीनी धम्मपद) में पहले के 6 तथा 33वें और 35वें के बाद के अध्याय पालि धम्मपद की अपेक्षा ज्यादा हैं। बीच के 26 अध्याय पालि की गाथाओं की अपेक्षा ज्यादा हैं। चीनी भाषा के धम्मपद का दूसरा संस्करण **फा-ख्यु-पि-यु** कहलाता है। यह अनुवाद सन् 265 ईसवी से 313 ईसवी के मध्य हुआ माना जाता है। इसमें अट्ठकथाएं भी अनूदित हैं, परंतु धम्मपद का यह सकल अनुवाद नहीं है। इस संस्करण का सैमुयल बील ने 1878 ईसवी में अंग्रेजी अनुवाद किया था। चीनी धम्मपद का तीसरा अनुवाद **चुह-यउ-किंग** कहलाता है, इसमें 33 अध्याय हैं और इसका अंतिम अध्याय पालि धम्मपद के समान ब्राह्मण-वग्गो है। धम्मपद का एक अन्य प्राचीन चीनी अनुवाद आठवीं-नौवीं शताब्दी में 'सुंगवंश' के राज्यकाल के दौरान हुआ मिलता है। **तन्-पोह** (धम्मपद) के विभिन्न संस्करणों में गाथाएं 500 से 900 तक प्राप्त होती हैं। रोमन शब्दों में धम्मपद का प्रथम मुद्रण 1885 में फॉसबॉल ने किया, इसका दूसरा संस्करण सन् 1900 ईसवी में निकला था। थेर सुरिमा सुमंगल ने 'पालि टेक्स्ट सोसाइटी' के द्वारा सन् 1914 में धम्मपद का प्रकाशन किया, जो सिरीलंका व ब्रह्मा के संस्करणों पर आधारित है। इसके अलावा जर्मन व फ्रेंच भाषा में भी इसके प्राचीन अनुवाद मिलते हैं। जर्मन में धम्मपद को वेबर ने सन् 1860 में, एल.वी. थोडर ने सन् 1892 में, न्युमन ने सन् 1893 में छपवाया तथा अन्य कई अनुवाद हुए। फ्रेंच भाषा में फरनेदोंहु कृत अनुवाद सन् 1878 में प्रकाशित हुआ। इतालवी भाषा में पी.ई. पवोनि ने सन् 1908 और सन् 1912 में इसे प्रकाशित किया। रूसी भाषा में एन. गेरसिमोव ने सन् 1912 में इसका अनुवाद किया। अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में भी इसके कतिपय संस्करण उपलब्ध हैं, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा अंग्रेजी अनूदित धम्मपद सन् 1950 में प्रकाशित हुआ।

हिंदी भाषा में धम्मपद—हिंदी भाषा में धम्मपद का प्रथम अनुवाद सन् 1908 में प्रकाशित हुआ था। इसके अनुवादक भदंत ऊ. चंद्रमणि महास्थविर थे। गंगा प्रसाद उपाध्याय ने सन् 1932 में, महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सन् 1933 में, भिक्खु धर्मरक्षित ने सन् 1953 में, विनोवा भावे ने सन् 1959 में, डॉ. रामजी उपाध्याय ने सन् 1966 में, कनछेदी लाल गुप्त और सत्कारि शर्मा वंगीय ने सन् 1968 में, प्रो. सत्यप्रकाश शर्मा ने सन् 1973 में तथा कई अन्य अनुवादकों ने समय-समय पर हिंदी भाषा में 'धम्मपद' का प्रकाशन करवाया। इसकी 423 गाथाओं का हिन्दी काव्यान्तर मान्य सीयाराम गुप्त ने सन 1956 में बुद्धवचन शीर्षक से प्रकाशित किया। कुछ प्रमुख गाथाओं का काव्यान्तर मान्य रामप्रसाद दाधिच ने भी लगभग उसी समय किया था। तुलसी दोहा-चौपाई शैली में वशं नारायण लाल, बनारस की स्थानीय बोली में बिहारी लाल तथा पंजाबी में व.प.ल. वेदी तथा लालमणि जोशी, उर्दू में शायर विश्वेश्वर मुनअवर लखनवी आदि का तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी यह कृति अनूदित हो चुकी है। इसका कारण स्पष्ट है कि धम्मपद की महिमा अनन्य है। 'धम्मपद' की गाथाएं वस्तुतः चयन किए फूलों के समान संकलित हैं, जो सदाचार के मार्ग-पथ पर आरूढ़ सत्त्व को अक्षय निधि प्रदान करती है, इसे धम्म का मार्ग भी कहा जाता है। इसके अध्ययन

एवं अनुशीलन से बोधिचित्त का उत्पाद होता है। मनुष्य को अपनी कर्त्तव्य परायणता का बोध होता है। 'धम्मपद' की बोधिचित्तोत्पादक शिक्षाएं जगत् के लिए मृत्यु के नाश के लिए रसायन हैं एवं जगत् की दरिद्रता दूर करने वाली यह अनुपम-अक्षय निधि है। जगत् की व्याधि शांत करने वाली यह उत्तम औषधि है। भव-मार्ग में घूम-घूम कर थके जगत् के लिए ये शिक्षाएं विश्रामदायक वृक्ष के समान हैं। सब यात्रियों के लिए यह सर्वसाधारण सेतु है, जिससे दुर्गति का समुद्र पार किया जा सकता है। जगत् के क्लेश-ताप को शांत करने वाली ये शिक्षाएं घने अंधकार में उदित चंद्रमा के समान हैं। संसार के अविद्यांधकार का नाश करने वाली सूर्य रश्मियों के समान प्रज्ञा है। वस्तुतः 'धम्मपद' ज्ञान और अध्यात्म का चंद्रमा और सूर्य है। इसकी शिक्षाएं सद्धर्म-क्षीर के मंथन से निकला हुआ 'नवनीत' है। भवार्णव में चक्कर लगाने वाले भव-यात्री का यह सकल भोज है। सभी प्रकार की सीमाओं और बाध्यताओं से ऊपर उठी हुई ये शिक्षाएं एक सांप्रदायिक व्यक्ति को बुद्धत्व के परम पद की ओर अग्रेसित करने वाली मानवीय प्राप्तियों का अनुपम कोष है एवं लोकोत्तर जगत् की पतवार है।

धम्मपद की विषय-वस्तु—धम्मपद की विषय-वस्तु बौद्ध धर्म में गवेषित सिद्धांतों के संदर्भ में ही समझी जानी चाहिए, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः धम्मपद की शिक्षाएं सार्वजनीन व सार्वदेशिक हैं। ये उदात्त शिक्षाएं सार्वभौमिक व सार्वकालिक हैं, इनका महत्त्व प्रत्येक मनुष्य के लिए है। पालि भाषा में उपलब्ध गाथाएं व चीनी धम्मपद आदि की गाथा संख्या में पर्याप्त भेद है। प्रत्येक अध्याय (वग्ग=वर्ग) की गाथाएं उस अध्याय के शीर्षक के अनुरूप हैं। प्रस्तुत धम्मपद कृति में प्रत्येक वग्ग के प्रारंभ में उस प्रतिपाद्य विषय पर संक्षिप्त प्रकाश अवश्य डाला है, अतः यहां पर उसे पुनः दोहराना ठीक नहीं रहेगा। पाठक के लिए धम्मपद के किसी भी वग्ग को पढ़ने से पूर्व उनका अवधान करना धम्मपद की गाथाओं को सुग्राह्य बनाने वाला होगा। यहां पर पालि धम्मपद व चीनी धम्मपद के वग्ग व गाथाओं की संख्या अभिप्रेत करके यह बताने का प्रयास किया जा रहा है कि 'धम्मपद' के पूर्ण स्वरूप का संधान अभी भी अनुसंधेय है।

फां-ख्यु-किंग (चीनी धम्मपद)

क्र.सं.	वग्ग का नाम	गाथा संख्या
1.	अनित्यता	21
2.	ज्ञान दर्शन	29
3.	श्रावक	19
4.	श्रद्धा	18
5.	कर्त्तव्य पालन	16
6.	विचार	12
7.	मैत्री भावना	19
8.	संलाप	12
9.	यमक वग्ग	22
10.	अप्पमाद वग्ग	20
11.	चित्त वग्ग	12
12.	पुप्फ वग्ग	17
13.	बाल वग्ग	21
14.	पंडित वग्ग	17
15.	अर्हन्त वग्ग	10
16.	सहस्स वग्ग	16
17.	पाप वग्ग	22

पालि धम्मपद

क्र.सं.	वग्ग का नाम	गाथा संख्या
—	अनुपलब्ध	—
—	अनुपलब्ध	—
—	अनुपलब्ध	—
—	अनुपलब्ध	—
—	अनुपलब्ध	—
—	अनुपलब्ध	—
—	अनुपलब्ध	—
—	अनुपलब्ध	—
1.	यमक वग्ग	20
2.	अप्पमाद वग्ग	12
3.	चित्त वग्ग	11
4.	पुप्फ वग्ग	16
5.	बाल वग्ग	16
6.	पंडित वग्ग	14
7.	अरहन्त वग्ग	10
8.	सहस्स वग्ग	16
9.	पाप वग्ग	13

18.	दंड वग्ग	14	10.	दण्ड वग्ग	17
19.	जरा वग्ग	14	11.	जरा वग्ग	11
20.	अत्त वग्ग	14	12.	अत्त वग्ग	10
21.	लोक वग्ग	14	13.	लोक वग्ग	13
22.	बुद्ध वग्ग	21	14.	बुद्ध वग्ग	18
23.	सुख वग्ग	14	15.	सुख वग्ग	12
24.	पिय वग्ग	12	16.	पिय वग्ग	12
25.	कोध वग्ग	26	17.	कोध वग्ग	14
26.	मल वग्ग	19	18.	मल वग्ग	21
27.	धम्मट्ठ वग्ग	17	19.	धम्मट्ठ वग्ग	17
28.	मग्ग वग्ग	28	20.	मग्ग वग्ग	17
29.	पकिण्ण वग्ग	14	21.	पकिण्ण वग्ग	16
30.	निरय वग्ग	16	22.	निरय वग्ग	14
31.	नाग वग्ग	18	23.	नाग वग्ग	14
32.	तण्हा वग्ग	32	24.	तण्हा वग्ग	26
33.	सेवा	20	—	अनुपलब्ध	—
34.	भिक्खु वग्ग	32	25.	भिक्खु वग्ग	23
35.	ब्राह्मण वग्ग	40	26.	ब्राह्मण वग्ग	41
36.	निर्वाण	36	—	अनुपलब्ध	—
37.	जन्म और मृत्यु	18	—	अनुपलब्ध	—
38.	धर्मलाभ	19	—	अनुपलब्ध	—
39.	महामंगल	19	—	अनुपलब्ध	—
	कुल संख्या	752		कुल संख्या	423

डॉ. बी.सी. लॉ अपनी कृति **'ए हिस्ट्री ऑफ पालि लिट्रेचर'** में उल्लेख करते हैं कि **फा-ख्यु-किंग** (चीनी धम्मपद) का अंतिम 39वां अध्याय **'महामंगलसूत्र'** है तथा 38वां अध्याय **'धर्मलाभ'** महामंगल जातक से लिया गया है। प्रथम अध्याय अनित्यता व 19वें अध्याय 'जरा वग्ग' की गाथाओं को प्राकृत धम्मपद के 8वें अध्याय जरा वग्ग में खोजा जा सकता है। तुर्फान से प्राप्त धम्मपद में भी अनित्यता, श्रावक आदि अध्यायों की गाथाएं तुलनीय हैं। कई विद्वानों ने यथा—बील, रॉकहिल, पिश्चेल आदि ने इनको समीकृत करने व मिलाने का प्रयास भी किया है। अध्यायों की कमी या बेसी निस्संदेह अनुसंधान को आमंत्रित करती है, क्योंकि चीनी धम्मपद के 39वें अध्याय की विषय-सामग्री व गाथाएं, जो पालि धम्मपद में नहीं हैं, वह भी बौद्ध स्रोत-ग्रंथों में उपलब्ध है। अनित्यता, ज्ञान-दर्शन, श्रावक, श्रद्धा तथा महामंगल आदि की गाथाएं सुत्तनिपात में सालसुत्त, उट्ठानसुत्त, चुन्दसुत्त, आलवकसुत्त, मेत्तसुत्त, सुभाषितसुत्त व महामंगलसुत्त आदि में हमें उपलब्ध होती हैं। अस्तु, मेरे विचार से ये मूल धम्मपद संकलन की सामग्री है। पालि धम्मपद में अनित्यता आदि से लेकर महामंगल वग्ग तक की जो गाथाएं नहीं मिलतीं, वे अन्वेषित की जानी चाहिएं। चूंकि धम्मपद बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का प्रतिपादन भी करता है। अतः उसमें अनित्यता आदि से संबंधित गाथाएं अवश्य ही रही होंगी, परंतु भारत में धीरे-धीरे पालि धम्मपद में वे गौण होती गईं होगी और आज के उपलब्ध पालि धम्मपद में हम उसे अनुपलब्ध पाते हैं। धम्मपद की इन लुप्त गाथाओं और अध्यायों का पालि धम्मपद में पुनर्लेखन आवश्यक प्रतीत होता है। धम्मपद की सभी उपलब्ध प्राचीन रचनाओं का इस रूप में समेकित कर अनुशीलन किया जा सकता है। हिंदी भाषा में वह सामग्री अनुपलब्ध होने के कारण हिंदी जगत् में इसकी जानकारी व गवेषणा नहीं के बराबर है। माननीय शान्ति स्वरूप बौद्ध और उनके सम्यक प्रकाशन से इस दिशा में अपेक्षित कार्य करके उसे जिज्ञासु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की आशा की जा सकती है।

धम्मपद अट्ठकथाएं—धम्मपद का अध्ययन व अनुशीलन तभी पूर्ण प्रासंगिक रूप में समझा जा सकता है, जब हमें इनके संदर्भ सूत्रों का ज्ञान हो। इन गाथाओं के गूढ़ में छुपी अंतर्कथाओं (अर्थकथाओं) को समझे बिना धम्मपद की गाथाओं का गूढ़ार्थ पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः धम्मपद गाथाओं के सही गूढ़ार्थ के लिए धम्मपद की अर्थकथाएं अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। इन गाथाओं की अंतर्कथाओं का प्रामाणिक संग्रह आचार्य बुद्धघोस ने त्रिपिटक के अन्य ग्रंथों की व्याख्याओं के अनुक्रम में विस्तारपूर्वक किया है। महान आचार्य बुद्धघोस ने इन अट्ठकथाओं (अर्थकथाओं) के माध्यम से हमें बहुत कुछ नया आलोक दिया है, उन्होंने हमारे प्रज्ञा क्षेत्र को व्यापक प्रस्फुटन दिया है—धम्मपद की अट्ठकथाएं सद्धर्म को चिरस्थायी बनाए रखनेवाली महत्त्वपूर्ण पूंजी है। ये अर्थकथाएं भी पालि भाषा में उपलब्ध हैं। प्राकृत धम्मपद में भी कुछ अर्थकथाएं हैं, परंतु हिंदी भाषा में अर्थकथाओं की अनुपलब्धि ने भी 'धम्मपद' के प्रचलन में किंचित् कमी पैदा की है। जब मैंने धम्मपद की अर्थकथाओं का संक्षिप्त रूप लिखने का प्रयास किया, तब मेरे सामने हिंदी में ऐसा कोई साहित्य नहीं था। अतः आंग्ल भाषा के 'एनसाइक्लोपीडिया' आदि से प्रस्तुत कथाओं को संजोया गया। धम्मपद पर काम करने के दरम्यान मुझे भिक्खु धर्मरक्षित द्वारा संपादित धम्मपद भंते विमलसागर द्वारा तथा धम्मपद पर रजनीश के व्याख्यान *'एस धम्मो सनंतनो'* मेरे मित्र उपासक ओ.पी. शाह द्वारा उपलब्ध करवाए गए। चूंकि मेरा कार्य पूर्णता पर था। अतः मैं समग्र रूप से तो उनका मिलान नहीं कर सका, परंतु सरसरी दृष्टि से मिलान करने पर मैंने संतोष का अनुभव किया कि यह संकलन पाठकों के लिए अनुकूल ही रहेगा व अर्थकथाओं का मूल स्वरूप मेरे संकलन में भी सुरक्षित ही है। सारनाथवासी आचार्य भिक्खु डॉ. स्वरूपानंद का इन अर्थकथाओं के संयोजन में जो अतुलनीय आशीर्वाद रहा है, उसे मैं शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता हूं। उन्होंने मुझे 'धम्मपद' की हिंदी में प्रकाशित विविध लेखकों की प्रतियां ही उपलब्ध नहीं करवाई, अपितु अक्टूबर 2003 में मेरे सारनाथ जाने पर मूल अट्ठकथाएं भी हिंदी में उपलब्ध करवाईं। परंतु सारनाथ से गया व सांची जाने के कारण उन्हें मैं अपने साथ नहीं ले जा सका अतः उनसे मिलान नहीं किया जा सका। स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा अनूदित ये 'धम्मपद-अट्ठकथा' निस्संदेह हिंदी जगत् के लिए अनुपम उपहार है। धम्मपद-अट्ठकथा के इस हिंदी संस्करण का भरपूर स्वागत होना चाहिए। बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा प्रकाशित इस निधि का प्रकाशन सन् 2000 में चार भागों में हुआ है, परंतु इनका प्राप्ति क्षण मुझे सन् 2003 में उस समय मिला, जब प्रस्तुत कृति संस्करण योग्य बन चुकी थी। महान आचार्य बुद्धघोस द्वारा लिखित 'धम्मपद-अट्ठकथा' व प्रसिद्ध शिक्षा मनीषी स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा अनूदित कृतियों के आगे मेरा प्रयास कुछ भी तो नहीं है। 'धम्मपद-अट्ठकथा' के हिंदी अनुवाद के प्रकाश में इस कृति के दूसरे संस्करण में, मेरे द्वारा किंचित रह गई भूलों को भी संवारने का मौका मिलेगा। संक्षिप्त रूप में अर्थकथाओं का हिंदी स्वरूप भिक्खु धर्मरक्षित द्वारा संपादित धम्मपद अच्छे ढंग से प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत कृति तो इन मनीषियों का अनुगमन मात्र है, उनकी कही हुई बात की ही मैंने पुनरावृत्ति की है, परंतु फिर भी पाठकों को उसमें कुछ नया अवश्य ही मिलेगा।

धम्मपद तुलनात्मक अध्ययन—धम्मपद की अर्थकथाओं की अनुपलब्धि में उसका अन्य कृतियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन रुका हुआ था। हिंदी जगत् में स्वामी द्वारिकादास शास्त्री का अनुवाद निसंदेह एक ऐसा मील का पत्थर है, जो हिंदी जगत् में धम्मपद के तुलनात्मक अध्ययन को 'प्रकाश-स्तंभ' के रूप में रोशनी प्रदान करेगा। वस्तुतः धम्मपद की तुलना विश्व के किसी भी ग्रंथ से नहीं की जा सकती है। फिर भी कई विद्वानों ने इसका तुलनात्मक संकेत किया है। आचार्य विनोवा भावे ने इसे 'बौद्ध-गीता' कहते हुए 'गीता' से तुलना की है। उन्होंने धम्मपद की 423 गाथाओं को कर्म, साधना और निष्ठा तीन भागों में बांटकर गीता से तुलनात्मक संकेत किया है। डॉ. बी.सी. लॉ ने तथा अन्य अनेक विद्वानों ने धम्मपद के अनेक पदों की तुलना विभिन्न साहित्य ग्रंथों के अंशों से की है, परंतु ये सब संकेत मात्र है। धम्मपद का तुलनात्मक अध्ययन अभी भी अपेक्षित है। बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भगवान बुद्ध और उनका धम्म' में धम्मपद की अनेक गाथाओं को समाविष्ट किया है। जिसे प्रस्तुत कृति के प्रत्येक वग्ग में संकेतिक किया गया है। डॉ. सुरेंद्र अज्ञात ने 'बुद्ध, आंबेडकर और धम्मपद' में इनका तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तुत किया है। आचार्य भिक्खु डॉ. स्वरूपानंद (सारनाथ) ने कबीर के बीजक और धम्मपद की तुलना पर अपना शोधग्रंथ प्रस्तुत किया है। ये सब प्रयास हिंदी जगत् में धम्मपद के तुलनात्मक अध्ययन में महत्त्वपूर्ण हैं। हिंदी में अर्थकथाओं की उपलब्धि इसको नई दिशा देगी, ऐसा हमारा मानना है।

तथागत की देशना में अंतर्निहित दर्शन

महाकारुणिक भगवान बुद्ध की देशना अर्थात् त्रिपिटक में धर्म, अर्थ, देशना और प्रतिवेध ये चार प्रकार के गंभीर भाव हैं। बुद्ध-वचन (पालि) 'धर्म' है। उनका अर्थ ही 'अर्थ' हैं। उनकी देशना 'देशना' है तथा उन बुद्ध-वचनों का यथार्थ अवबोध 'प्रतिवेध' है। प्रकारांतर से धर्म 'हेतु' है। अर्थ हेतुओं का 'फल' है। देशना 'प्रज्ञप्ति' है अर्थात धर्मों का अनुलोम, प्रतिलोम, संक्षेप, विस्तार आदि से कथन 'प्रतिवेध' 'अभिसमय' है अर्थात उन कहे हुए धर्मों का स्वलक्षण नामक अविपरीत स्वभाव। इन त्रिपिटकों में जो धर्म और अर्थ कहे गए हैं, उन धर्मों और अर्थों का श्रोताओं को यथार्थ अवबोध कराने के लिए जो देशना कही गई है तथा जो धर्मों का अविपरीत अवबोध नामक प्रतिवेध है—ये सब जिनके कुशल संभार उपचित नहीं है, ऐसे दुष्प्रज्ञ पुद्गलों के लिए दुर्ज्ञेय हैं। अतः इन्हें गंभीर कहा गया है। इसी गंभीर धर्म को धम्मपद की गाथाओं के माध्यम से सामान्य जन के लिए सहज अवधानीय बनाया गया है। तथागत की इस देशना को यहां पर चार आर्यसत्यों के माध्यम से रेखांकित करके समझाया जा रहा है।

चार आर्य-सत्य

धम्मपद जीवन को सहज एवं शालीन बनाने वाला एक उत्कृष्ट ग्रंथ तो है ही, साथ ही यह बौद्ध धर्म के प्रामाणिक साहित्य का एक अनूठा प्रमाण है। इस ग्रंथ के महान उपदेशक तथागत बुद्ध के दर्शन का विशद परिवर्धन एवं विकास दुनिया के कोने-कोने में हुआ है, फिर भी 'धम्मपद' की गाथाएं अपना वही रूप अपनाए हुए हैं, जो उनके उपदिष्ट किए जाते समय था। इन गाथाओं का विभिन्न देशों के विचार-चिंतन पर कितना प्रभाव पड़ा है, इसका इस देश में अथवा अन्य देशों में पूर्ण एवं गहन अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है। तत्संबंधित सामग्री एकत्रित करने में भी अनेक वर्ष लग सकते हैं, यह अत्यंत श्रमसाध्य कार्य है। अतः विद्वतजन इस ओर उस उत्साह से संलग्न नहीं होते हैं, जितने उत्साह से वेद आधारित सामग्री के संचयन एवं समेकन में जुटते हैं। समकालीन अध्येता वैदिक विचारधारा के प्रभाव को रेखांकित करने में उत्साह से आगे आते हैं, जबकि यह सर्वविदित है कि बौद्ध धर्म के प्रस्फुटन व पल्लवन के कारण ही हिंदू दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में दार्शनिक जिज्ञासा का जागरण अधिक तेजी से हुआ था। वैदिक दर्शन को आधार बनाने वाले जितने भी दार्शनिक संप्रदाय या ग्रंथ हैं, वे तथागत बुद्ध के बाद ही लिखे गए सिद्ध होते हैं। उनकी मौलिकता एवं प्राचीनता संशयग्रस्त है। हिंदू दर्शन के जितने भी संप्रदाय हैं, उन सबके जो क्रमबद्ध शास्त्र हमको मिलते हैं, वे बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् लिखे गए थे। अतः विभिन्न हिंदू दर्शनों का पूर्णरूपेण अध्ययन करने के लिए एक वैदिक अनुयायी को बौद्ध दर्शन का गहराई से ज्ञान प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। बौद्ध धर्म के विभिन्न दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन का अवसर नहीं प्राप्त करने वालों के लिए 'धम्मपद' एक ऐसी महान रचना है, जो उनमें मानवीय व्यवहार के मानदंडों को पल्लवित करने में सदैव प्रेरणा देने वाली अक्षुण्ण निधि के समान है।

धम्मपद की गाथाओं में बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की सुंदरता, उनका सौहार्द, गाम्भीर्य एवं भव्यता झलकती है। इन गाथाओं का प्रभाव भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं सभ्यता पर अनेक शताब्दियों तक निरंतर पड़ता रहा है, जिनके मूल में भगवान बुद्ध के दर्शन का प्रकाश है। दर्शन का वह प्रकाश तथागत ने 'चार आर्य-सत्यों' (श्रेष्ठ सत्यों) के माध्यम से प्रकाशित किया था। धम्मपद के संक्षिप्त एवं व्यापक, गंभीर एवं गहन अध्ययन के लिए भी हमारे लिए महान सच्चाइयों को समझना जरूरी हो जाता है। अतः धम्मपद के अध्येता को भगवान द्वारा उदघाटित इन महान सच्चाइयों पर एक दृष्टि डालना आवश्यकीय है। हम इस बात को भली-भांति जानते हैं कि भगवान बुद्ध ने ज्ञान क्षेत्र की समस्त सूचनाओं और तथ्यों को एकत्रित करके उनको 'सत्य' के नाम से उदबोधित किया है। यह मानवीय मेधा की चरमोत्कर्ष स्थिति है, जिससे तथागत पूजनीय बन गए, वंदनीय हो गए, वे हमारे शास्ता बने।

मानवीय मेधा की पराकाष्ठा की परिणति कई बार हम वैज्ञानिक मेधा में भी पाते हैं। हम जानते हैं कि वैज्ञानिक मेधा का उपयोग कर आइंसटीन, डारविन और फ्रायड आदि ने विश्व के कुछ सार्वभौम नियमों का उद्‌घाटन किया। इन्होंने विश्व के कुछ सार्वभौम नियमों की व्याख्या की, परंतु इन सब वैज्ञानिकों के ज्ञान से विलक्षण तथागत बुद्ध की योग्यता इस बात में सन्निहित है कि उन्होंने इस ज्ञान को विभिन्न बौद्धिक क्षमता के लोगों हेतु सुग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया। धम्मपद की गाथाएं इसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं।

सार्वभौम नियमों की सुग्राह्यता से सम्यक समझ पैदा होती है। इन मूलभूत नियमों की सम्यक समझ या उनका ठीक ज्ञान इस विश्व की विभिन्न प्रक्रियाओं को समझने की एक पूर्व शर्त बन जाती है। इस प्रकार यह उस व्यक्ति की प्रेरणात्मक ऊर्जा का भाग बन जाती है। ऐसा होने पर ही कोई 'शांत-चित्त' हो सकता है, वह जीवन की कठिनाइयों को हंसते-हंसते पार कर जाता है। उदार चेता मनस्वी धम्मपद की खुली किताब बन कर जगत् में विचरण करने लगता है। वह चिंता, भय, भ्रम, पूर्वाग्रहों और व्यवहार के असमायोजनों से निजात पा जाता है। जीवन की तद्‌रूपता में वह कौन सी वास्तविकता या सत्य है, जिसका तथागत ने उपदेश दिया है, इसकी झलक हमें धम्मपद में अवश्य मिलती है। सद्‌धर्म साहित्य तथा धम्मपद उस समय-पथ के राही को इसका पात्र बनाता है। धम्मपद की गाथाओं से आवेष्टित धम्मानुरागी का जीवन चरित निसंदेह उन सत्य-गवेषणाओं को अनुभूत करता है, वे अन्य कोई नहीं, अपितु, आर्य-सत्य के रूप में उजागर होती हैं, जिसे हमारे शास्ता ने प्रथम बार विलक्षण ढंग से उद्‌घाटित किया था। भगवान बुद्ध का प्रत्येक शब्द और ध्वनि इनमें गुंजायमान है। ये 'चार आर्य-सत्य' के नाम से जाने जाते हैं, जो दुख, दुखसमुदय, दुखनिरोध, दुखनिरोधगामिनी मार्ग के नाम से विख्यात है। धम्मपद के अनुशीलन के लिए इन 'चार आर्य-सत्यों की सामान्य दार्शनिक जानकारी प्राप्त करना हमारे लिए नितांत आवश्यक है।

ये आर्यसत्य क्यों कहलाते हैं ?

भगवान बुद्ध द्वारा उद्‌घाटित 'सत्य' को 'आर्य-सत्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। यहां आर्य का मतलब 'श्रेष्ठ' से है, अर्थात ये 'श्रेष्ठ सच्चाइयां' हैं। इसका यह अर्थ भी लिया जाता है कि ये सच्चाइयां तथागत बुद्ध द्वारा उपदिष्ट हैं। अर्थात दूसरे अर्थ में आर्य का अर्थ भगवान बुद्ध से भी है, बुद्ध ही श्रेष्ठ हैं, बुद्ध ही आर्य हैं। बौद्ध धर्म में 'आर्य' शब्द का अर्थ 'प्रजाति' के रूप में प्रयुक्त नहीं होता है, वरन आर्य शब्द व्यक्ति की शालीनता और सभ्यता का प्रतीक है। ये इसलिए भी आर्यसत्य कहे जाते हैं, क्योंकि ये सत्य के सर्वोच्च रूप को हमारे सामने रखते हैं। बौद्ध धर्म में 'सत्य' एक विशिष्ट अर्थ रखता है। जब हम किसी आदमी, औरत, नदी, पहाड़ आदि का जिक्र करते हैं, तो यह 'परियाय' सत्य के रूप में होते हैं और जब इनको इनके तत्त्वों या इकाई के रूप में व्यक्त करते हैं, तो परमार्थतः वे सत्य नहीं ठहरते हैं। अतः वे विपर्याय सत्य कहलाते हैं। ये विपर्याय सत्य 'सत्य' नहीं होते हैं। परवर्ती भारतीय चिंतन पर बौद्ध धर्म के द्वारा की गई सत्य की इस व्याख्या का गहरा प्रभाव हमें शंकर के दर्शन में देखने को मिलता है, जिसे उसने माया कहकर मिथ्या तक कहा है। तथागत के दर्शन के सत्य स्वरूप की इस व्याख्या से भारतीय दर्शन का प्रत्येक संप्रदाय अपनी व्याख्या में बच नहीं सका है। उसे किसी न किसी रूप में तथागत के सत्य उद्‌घाटन का आलंबन लेना पड़ा है। बौद्ध धर्म में सत्य की संवृत्ति सत्य व्याख्या इस संदर्भ में अनुशीलनीय है।

हमारे मानसिक क्रियाकलाप यथा नैतिक विचार या नैतिक विपाक भी एक मानसिक इकाई हैं और विचार जगत् में अंतिम है, परंतु उच्चतर सामान्यीकरण में या आध्यात्म में ये असत्य ठहरते हैं, क्योंकि वे वस्तुओं या घटनाओं की श्रेणी में ही निरूपित होते हैं, जो स्वभावतः अनुबंधित होने से रुग्ण हैं, परिवर्तन के नियम के अधीन हैं। अस्तु, वे सत्य नहीं कहे जा सकते हैं और श्रेष्ठ या आर्यसत्य तो किसी भी शर्त पर नहीं कहे जा सकते हैं। सत्य तो वे ही कहे जा सकते हैं, जो वैसे ही घटित होते हैं, जैसे उनकी तथता है, जैसा कहा गया, उसके विपरीत कुछ भी नहीं है, यही उनकी तथता है। उनके घटित होने के अन्य तरीके भी नहीं हैं। हमें अभिधर्मकोश की इस कारिका से इसे समझने में सहायता प्राप्त होती है, जब बोधिसत्व वसुबंधु कारिका में कहते हैं—

सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुखं समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग इत्येषां यथाभिसमयं क्रम।।

अर्थात सत्यों की संज्ञा आर्यसत्य इसलिए है, क्योंकि आर्य इनको सत्य करके जानते हैं। ये सकल लोक के लिए सत्य है, किंतु आर्य इन्हें यथाभूत देखते हैं, वह दुख को अर्थात उपदान स्कंध को दुखतः, अनित्यतः इत्यादि देखते हैं। अन्य सब इस प्रकार नहीं देखते हैं। अतएव ये आर्यों के सत्य कहलाते हैं, अनार्यों के नहीं। आर्य सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति को कहते हैं, अनार्य असभ्य और संस्कृतिहीन जन को कहा जाता है। अनार्य शब्द का द्योतक ही देशज भाषा का 'अनाड़ी' शब्द है। अनार्यों को इनका विपरीत दर्शन होता है और सत्य वह है, जो अविपरीत हो, आर्यों को सदैव सत्य एक से अनुभूत होते हैं, उनके लिए वे 'अविपरीत' है, परंतु अनार्यों के लिए विपरीत हैं, इसलिए भी ये सत्य गवेषणाएं 'आर्य-सत्य' कही जाती हैं। संयुत्तनिकाय (4.127) में कहा भी है—

''यं परे सुखतो आहु तदरिया आहु दुःखतो।
यं परे दुःखतो आहु तदरिया दुःखतो विदु।''

अर्थात जिसे आर्य सुखतः (निर्वाण) जानते हैं, उसे अन्य दुखतः जानते है, जिसे अन्य सुखतः जानते है, उसे आर्य दुखतः जानते है।

इस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों व उपागमों से बौद्ध धर्म में आर्यसत्यों का प्रकाशन हुआ है। इनके गूढ़ अर्थ की समझ हेतु त्रिपिटक साहित्य का अनुशीलन हमारे लिए जरूरी है। 'धम्मपद' के सम्यक अध्ययन में इस सच्चाई का उद्घाटन होता है और सर्वसाधारण को ग्राह्य इन गाथाओं को दर्शन की गहराईयों में वेष्टित कर हम उसे दुर्बोध्य नहीं बनाना चाहते हैं, परंतु धम्मपद की पृष्ठभूमि और पूर्वपीठिका में सत्य के स्वरूप का ताना-बाना रखना इसलिए जरूरी हो जाता कि व्यक्ति बिना किसी ईर्ष्या या अंधविश्वास के सत्यों का अभिसमय प्राप्त करने में उद्यत हो सके, इसके लिए वैचारिक पृष्ठभूमि की कुछ उर्वरा ऊर्जा आवश्यक है, इसी अभिप्रेत से आर्यसत्यों पर यहां प्रकाश डालना जरूरी समझा गया है।

आर्यसत्यों का क्रम—बौद्ध धर्म में आर्यसत्यों का एक क्रम निर्धारित है। ये पूर्व-अपर क्रम में है। दुख आर्य-सत्य को प्रथम क्रम पर रखा जाता है और निरोधगामिनी प्रतिपदा को अंतिम क्रम पर। यह क्रम तथागत भगवान् बुद्ध द्वारा ही उपदिष्ट है, उसके पीछे पूर्ण युक्तिसंगतता है। यह क्रम तर्कपूर्ण ही नहीं है अपितु, **'एहि पस्सिको धम्मा'** की अभिव्यक्ति की अनुभव ग्राह्यता का भी क्रम है। दुख सत्य को उसकी व्यापकता, सार्वभौमिकता और सहज अनुभूत किए जाने के कारण प्रथमोक्त किया गया है। एक चिकित्सक जिस तरह पहले बीमारी का निदान करता है, फिर उसके कारण को अंवेषित करता है, वैसे ही भगवान बुद्ध ने दुख के बाद इसके कारण का संधान किया। कारण का पता लग जाने से उसके निवारण के लिए जतन किया जाता है। अतः निरोध-सत्य उसके बाद आता है, अंततः उपचार होता है, वही चतुर्थ आर्य-सत्य है।

चिकित्सा शास्त्र के अनुसार भी इन सत्यों का यही क्रम व्यवस्थित होता है। यह सत्य उद्घाटन सम्यक्सम्बुद्ध ने किया था। अतः उन्हें 'महाभैषजज्ञ'' कहा जाता है। महाकवि अश्वघोष अपनी प्रसिद्ध कृति सौंदरनंद में भगवान बुद्ध को महाभिषक् कहते हैं, उन्होंने चिकित्साशास्त्र के चतुर्व्यूह का उल्लेख करते हुए लिखा है कि दुख सत्य को रोग, दोषों को रोग-हेतु (निदान), निरोध सत्य को आरोग्य तथा मार्ग सत्य को औषधि समझो, यथा—

तद्व्याधिसंज्ञा कुरु दुख सत्ये, दोषेष्वेपि व्याधिनिदानसंज्ञा।
आरोग्यसेज्ञां च निरोध सत्ये, भैषज्यसंज्ञामपि मार्गसत्ये।।

अर्थ : परम पावन दलाई लामा इस पर प्रकाश डालते हुए इसे हमारे लिए सुग्राह्य बनाते हैं। वे कहते हैं—''दुख एक रोग के समान है, इस रोग के बाह्य और आंतरिक कारण दुख के आधार हैं। रोग का उपचार, दुख व उनके

कारणों का निरोध है। वह औषधि, जो रोग का उपचार करती है, मार्ग सत्य है। मार्ग सत्य से पहले दुख का प्रभाव व निरोध के कर्म का कारण यह है—प्रारंभ में दुख या रोग की पहचान आवश्यक है, जो कि प्रथम आर्यसत्य है। तत्पश्चात केवल रोग की पहचान ही पर्याप्त नहीं, उचित औषधि लेने के लिए रोग के कारणों को जानना दुख के कारण अथवा समुदय को पहचानना आवश्यक है। यह दूसरा आर्यसत्य है। केवल रोग के कारणों को जानना ही पर्याप्त नहीं, यह जानना भी आवश्यक है कि क्या रोग का उपचार संभव है ? उपचार के बारे में जानना तीसरे स्तर के समान है, जो दुख एवं उसके कारणों का वास्तविक निरोध है।''

''अब जबकि अनचाहे दुख की पहचान हो चुकी है, उसके हेतुओं को समझा जा चुका है, तब बीमारी को दूर किया जा सकता है। इसके लिए औषधि लेना आवश्यक है, जो रोग को दूर करने का साधन है। इस तरह दुख से मुक्ति दिलाने वाले मार्ग का अवलंबन भी आवश्यक है।''[1] यह सुविदित है कि चिकित्सा शास्त्र के इन चतुर्व्यूहों का धर्म की व्याख्या के लिए भगवान बुद्ध ने सर्वप्रथम उपयोग किया। चिकित्सा शास्त्र पर बौद्ध धर्म के अन्यान्य प्रभावों में से एक यह भी है, भगवान बुद्ध की रोग के निवारणार्थ अभिहित किए जाने वाले कर्मों की क्रमिकता को युक्तिसंगत आधार प्रदान किया। सत्यों के क्रम की इस युक्तिसंगतता से सद्धर्म की गेयता व अनुभूति सामान्यजन हेतु सुगम बन सकी व सद्धर्म शीघ्र ही सामान्यजन का 'लोक धर्म' बन गया। यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि आध्यात्म विद्या में तथागत ने ही इस परंपरा का प्रवर्तन किया, जिसकी देखा-देखी अन्य आध्यात्मिक प्रस्थानों ने भी की, परंतु इतना सब कुछ होने के बाद भी इस चतुर्व्यूह अर्थात 'चार आर्यसत्यों' को जो महत्त्व बौद्ध धर्म में प्राप्त हुआ है, वह अन्य धर्मों में नहीं हुआ है।

बौद्ध धर्म में इन चार आर्यसत्यों के चतुर्व्यूह वर्गीकरण और युक्तिकरण का पश्चातवर्ती प्रभाव हमें कई ग्रंथों में देखने को मिलता है। न्यायवार्तिक में दर्शाया गया है—''ये चार अर्थ-पद सब आध्यात्म विद्याओं में सब आचार्यों से वर्णित होते हैं।''[2] योगभाष्य में उक्त है—''जैसे चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूह है, रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य ऐसे ही यह शास्त्र भी चतुर्व्यूह है, यथा—संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय।''[3], इसी प्रकार सांख्य प्रवचन भाष्य में भी चतुर्व्यूह चिकित्सा शास्त्र से मोक्ष शास्त्र की समानता बताई गई है—''रोग, आरोग्य, रोग-निदान और भैषज्य के समान ही मोक्ष शास्त्र के चार व्यूह है—हेय, हान, हेय-हेतु और हानोपाय।''[4] ये सभी संदर्भ जिन ग्रंथों से उद्धृत हैं, वे सभी बौद्ध धर्म के विकास के बहुत बाद में लिखे गए हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के चार आर्यसत्यों की सैद्धांतिक प्रतिपत्ति एवं क्रम की युक्ति संगतता ने परवर्ती भारतीय दर्शन शास्त्र पर गहरा प्रभाव डाला है। तथागत बुद्ध के समकालीन व परवर्ती जितने भी वैदिक प्रस्थान हैं वे बौद्ध धर्म की छाप से अछूते नहीं रह सके। फिर भी कुछ उत्साही विद्वत्जन कभी-कभी अति उत्साह से या पूर्वाग्रह से यह लिख देते है कि बौद्ध दर्शन ने सांख्य एवं योग से प्रेरणा प्राप्त की है, परंतु उनका यह आग्रह तब धूल-धूसरित हो जाता है, जब हम तत्कालीन साहित्य का अवगाहन करते हैं। तत्कालीन साहित्यावलोक के प्रकाश में हमें स्पष्ट जानकारी मिलती है कि सांख्य एवं योग दर्शन के कोई भी शास्त्र हमें बुद्ध से पूर्व नहीं मिलते हैं। एस.एन. दासगुप्त अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भारतीय दर्शन का इतिहास' में स्पष्ट करते हैं कि ''यह भी सत्य है कि सांख्य एवं योग दर्शन के जो क्रमबद्ध शास्त्र हमको मिलते हैं, वे बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात लिखे गए थे।''[5] वे आगे लिखते हैं—''हिंदू दर्शन के अध्येता यह भली-भांति जानते हैं कि बौद्ध धर्म के संघर्ष के कारण हिंदू दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में दार्शनिक जिज्ञासा का जागरण अधिक तेजी से हुआ.

1. करुणाशील हृदय, पृष्ठ 39-40
2. *न्यायवार्तिक, पृष्ठ 12, चौखंबा, 1915,*
3. *योगभाष्य, पृष्ठ 185, चौखंबा, 1934*
4. *सांख्य प्रवचन भाष्य, पृष्ठ 6, चौखंबा, 1928*
5. *वही, पृष्ठ 77*

अधिकांश दार्शनिक ग्रंथ इस काल में लिखे गए।"[1] स्पष्टतः आर्यसत्यों का उद्घाटन व उनकी युक्तिसंगतता भगवान बुद्ध की मानव कल्याणार्थ महान देन है।

आर्यसत्यों के क्रमिक अन्वेषण से व्यक्ति इस भव-सागर को पार कर सकता है। भगवान बुद्ध ने इन आर्यसत्यों को इसी क्रम से संज्ञेय किया और प्रत्येक निर्वाणगामी को इनका अभिसमय (ज्ञान) इसी क्रम में होता है। अतः इस आधार पर भी इसके क्रम की युक्तिसंगतता सिद्ध होती है। जिस सत्य का अभिसमय (ज्ञान) पहले होता है, उसका पहले निर्देश है। अभिसमय का अर्थ अभिसंबोध है, यथा मौल मार्ग की प्रयोग अवस्था में योगी आदि में उस संज्ञा का उत्पाद करता है, जिसमें वह सक्त है, जिससे वह बाधित है, जिससे वह अपने से पूछता है कि इसका हेतु क्या है, उसको जो संज्ञा होती है वह समुदय संज्ञा होती है। पश्चात वह अपने से पूछता है कि इसका निरोध क्या है और उसको निरोध संज्ञा होती है। पश्चात वह अपने से पूछता है कि निरोध मार्ग क्या है और उसको मार्ग संज्ञा होती है। स्पष्टतः सत्योंव्यवचारण ध्यान-परीक्षा अवस्था में अभिसमयावस्था को प्राप्त हो, वह सत्यों का अभिसमय करता है। अतः अभिसमय ज्ञान से भी आर्यसत्यों का अभिसमय करता है, अतः अभिसमय ज्ञान से भी आर्यसत्यों का यही क्रम व्यवस्थित होता है।

बौद्ध धर्म के विभिन्न ग्रंथों में यथा अभिधर्मकोश, मिलिंद प्रश्न आदि में आर्यसत्यों के इस क्रम की युक्तिसंगतता पर गहराई से तात्विक व दार्शनिक विवेचन हुआ है। भगवान बुद्ध द्वारा व्यवस्थित आर्यसत्यों का युक्तिसंगत यह क्रम सांगोपांग व परिपूर्ण है। हालांकि "इस देश में उस समय यौगिक क्रियाएं भी प्रचलित थीं, जिनका सम्मान इस कारण से भी था कि इन क्रियाओं के करने वाले व्यक्ति अद्भुत शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियां इन क्रियाओं द्वारा प्राप्त करते थे। परंतु कोई युक्तिसंगत आधार इन क्रियाओं की पृष्ठभूमि में नहीं था, जिसके आधार पर वे इनका दार्शनिक विवेचन कर सकें।"[2] भगवान बुद्ध के द्वारा प्रथम बार ध्यान और साधना के सोपानों को भी युक्तिसंगतता प्रदान की गई, जिसका आधार भी उनके द्वारा उद्घाटित आर्यसत्यों का व्यवस्थित क्रम ही था। इस प्रकार भगवान बुद्ध ने युक्तिसंगत तरीके से ही आध्यात्म में इस सच्चाई को पूर्णतः प्रतिष्ठित किया। उनकी स्थापनाएं व मान्यताएं तद्विषयक वैदिक धारणाओं और ऊहापोह से विलक्षण व विचित्र थीं। तथागत की स्थापनाएं किसी भी प्रकार के आडंबर, कर्मकांड और दैवीय शक्ति से परिवेष्टित नहीं थीं, जिसकी निश्छल झलक हमें धम्मपद के माध्यम से मिलती है। धम्मपद की ये गाथाएं जन सामान्य में इस धर्म की गहरी पैठ को उजागर करती है। बौद्ध धर्म के इस आधार को लेकर कई प्रस्थान हुए हैं, जिनका किंचित उल्लेख पहले हो चुका है और यह स्पष्ट है कि हिंदू दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों की पृष्ठभूमि में ठोस सिद्धांत के रूप में कुछ भी नहीं था। सतही स्तर पर भी विचारों के बुल-बुले मात्र थे, जो अनायास या जिज्ञासा के प्रतीक मात्र थे, उनमें दर्शन के गहरे सिद्धांतों की पृष्ठभूति खोजना विचारों के इतिहास में अनोखा उपागम है।

आर्यसत्यों के क्रम की युक्तिसंगतता के प्रकाश में धम्मपद का अध्येता इस ग्रंथ की प्रत्येक गाथा को आर्यसत्यों के प्रकाश में हृदयंगम कर सकेगा।

सुख आर्यसत्य नहीं है—बौद्ध धर्म में हमें आर्यसत्यों का ज्ञान होता है और हम यह जानते हैं कि भगवान ने दुख को 'आर्यसत्य' कहा है। वहीं प्रत्येक प्राणी सुख की चाह करता है, सुख का सद्भाव अनुभव करता है एवं दुख से दूर रहना पसंद करता है, इससे उसे पीड़ा अनुभूत होती है। "हम सभी आंतरिक रूप से चाहते हैं कि हमें सुख प्राप्त हो और दुख न उठाने पड़ें, दुखों से मुक्त होकर हम सुख को प्राप्त करें, फिर तथागत ने उस सद्भाव सुख को आर्यसत्य क्यों नहीं कहा और केवल दुख को ही आर्यसत्य क्यों कहा ? यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि बौद्ध धर्म में व्याख्या प्राप्त दुख आर्य सत्य सांसारिक दुख नहीं है। भगवान बुद्ध ने दुखों की विस्तृत व्याख्या की है, इस व्याख्या में वस्तुतः दुख का अर्थ सांसारिक दुख नहीं है। इस संसार में किसी भी रूप या योनि में जीवन धारण करना दुख है और जाति

1. *सांख्य प्रवचन भाष्य, पृष्ठ 77, चौखंबा, 1928*
2. दासगुप्त, पृष्ठ 79

(जन्म) से प्रादुर्भूत दुख ही है। सुख नहीं है। अगर सुख एवं दुख की व्याख्या उनकी मात्रा या गुणों में की जाए, तो भी सुख की स्वल्पता ठहरती है। ऐसे में सुख उसी प्रकार की अनुभूति मात्र ठहरता है, जैसी एक फोड़े से पीड़ित प्राणी को उसकी खाज को सहलाने में अनुभूति होती है, क्योंकि अंततः वह दुख परिणत है। इस प्रकार सुख की स्वल्पता के कारण वह आर्यसत्य नहीं ठहरता है।

सुख भी दुख का हेतु होता है, क्योंकि यह अति यानी बहु दुखों से समुदित होता है, क्योंकि दुख के होने पर यह इष्ट होता है, अतः सुख को दुख ही व्यवस्थित करते हैं, इसलिए इस अर्थ में भी सुख आर्यसत्य नहीं ठहरता है। वेदनानुभूति के अनुसार आर्य लोग सुख को भी दुखवत ही देखते हैं, क्योंकि वह अनित्य है व आर्यों के प्रतिकूल है, अतएव दुख आर्यसत्य व्यवस्थित होता हैं न कि सुख। सुख वेदना भी 'यत्किंचित वेदित है, वह दुख है' की व्यवस्था में दुख ही है। दुख को सुखतः देखना विपर्यास है। सुख-हेतु का व्यवस्थापन नहीं है यथा अशन, पान, शीत उष्णादि, जिन्हें सुख हेतु मानते हैं, वे दुख हेतु हो जाते हैं, यदि वह अति परियुक्त या आकालोपयुक्त होते हैं। यह युक्त नहीं है कि एक सुख हेतु वृद्धि को प्राप्त कर या सम होते हुए अन्य काल में सम्मुख होकर दुख का उत्पाद करे। अतः यह तथोक्त सुख हेतु आदि से ही दुख के हेतु हैं, सुख के नहीं, पश्चात् दुख की वृद्धि होती है और तब वह अनुभवनीय होता है।

अगर आलंबन के लिहाज से सुख को परखा जाए, तो भी सुख वृद्धि का आलंबन सुख नहीं है, किंतु वह कभी दुख प्रतिकार व कभी दुख विकल्प है। स्पष्टतः जब तक व्यक्ति दुख से पीड़ित नहीं होता है, तव तक उसे वेदना नहीं होती है, जिसे वह सुखावेदना कहता है। वस्तुतः यह यथार्थ सुख नहीं होता है, अपितु दुख का प्रतिकार है, जो उसको सुख वृद्धि का अहसास कराता है और व्यक्ति उसको सुख समझ बैठता है। दुख विकल्प में भी सुख की वृद्धि होती है। वस्तुतः दुख रहता है, परंतु विकल्प से व्यक्ति उसको सुख मान बैठता है। उदाहरण के लिए कंधे पर रखे गए बोझ का भारवाहक जब एक कंधे से दूसरे कंधे पर अतिक्रमण करता है, तो उसे सुख वृद्धि उत्पन्न होती है, परंतु क्या वह वस्तुतः सुख है? अतः सुख का अस्तित्व नहीं है।

दुख पीड़ा पहुंचाता है, यह अपकार करता है, वहीं जो उपकार करता है, वह सुख है, तो फिर उसके अस्तित्व को कैसे नकारा गया है ? सुख सभी को अभिप्रेत भी है, प्रिय भी है। बौद्ध धर्म में सुख के इन विविध पक्षों पर भी गहराई से विवेचन किया गया है एवं यह प्रमाणित किया गया है कि यह सुख जिसे अभिप्रेत या प्रेय कहा गया है, वह भी वैराग्य काल में आर्यों को अनभिप्रेत होता है। अतः प्रेयत्त्व व्यवस्थापित नहीं होता है एवं इस आधार पर भी सुख का अवस्थान नहीं होता है। आर्यों का अनभिप्रेत उसकी प्रकृति या स्वभाव के कारण होता है। सुखावेदना पर्यायेण दुखा है। वेदना को भगवान ने दुख ही कहा है, जिसे विभिन्न व्याख्याओं के आधार पर बौद्ध धर्म में समझाया गया है। मनाप और अमाप सास्रव धर्म और इससे अन्य सास्रव व अशेषतः दुख है। अतः भगवान बुद्ध ने सुख को आर्यसत्य नहीं कहा है।

दुख या दुखता—स्पष्टतः भगवान बुद्ध ने सुख सत्य न कह कर दुख सत्य कहा है, इसे न केवल दुख सत्य कहा अपितु, दुख आर्यसत्य कहा है। यह स्पष्ट हो चुका है कि सुख आर्यसत्य नहीं है, तो दुख को किस प्रकार से 'श्रेष्ठ-सत्यों' की श्रेणी में रखा गया, यह जानना हमारे लिए आवश्यक है। दुख को बौद्ध धर्म में 'दुखता' के रूप में समझाया गया है। दुखता तीन हैं—(1) वह दुखता जो दुख है, इसे बौद्ध धर्म में दुख-दुखता के नाम से जाना जाता है, (2) वह दुखता जो संस्कृत है, संस्कार दुखता कही जाती है और (3) वह दुखता, जो परिणाम है, परिणाम दुखता मानी जाती है। इन तीन दुखताओं के कारण सब सास्रव संस्कृत अविशेष्यतः दुख हैं। मनाप भी विपरिणाम दुखता के कारण दुख है और अमनाप दुख दुखता के कारण दुख है, इससे अन्य जो न मनाप है और न अमनाप, वह संस्कार दुखता के कारण दुख है। इस प्रकार दुख तीन प्रकार के परिगणित होते हैं।

(I) दुख-दुखता—जैसा कि कहा जा चुका है, यह मनाप है। आम तौर पर शारीरिक या मानसिक दुख से दुख दुखता को जोड़ते हैं। उदाहरणतः सिर दर्द का दुख। इस दुख से मुक्ति पाने की इच्छा न केवल मनुष्यों में होती है,

अपितु जानवरों में भी होती है। इस प्रकार के दुखों से बचने के कुछ उपाय हैं, जैसे दवाई लेना, गर्म कपड़े पहनना, दुख के स्रोत से दूर रहना आदि। तीन वेदना और इनके सब संस्कार जिनका परिणाम सुखादि वेदना है, मनापादि संज्ञा का लाभ करते हैं। दुख वेदना दुख स्वभाव के कारण दुख दुखता है, अस्तु, बौद्ध धर्म में कहा गया है कि 'दुखावेदना उत्पाददुखा और स्थिति दुखा है।'

(II) परिणाम दुखता—इसे विपरिणाम दुखता के रूप में भी अभिधेय किया जाता है। वस्तुतः यह ऐसी दुखता है, जिसे हम सतही तौर पर तो सुख मानते हैं, परंतु यदि हम उसका ध्यान से परीक्षण करें, तो वास्तव में वह दुख ही है। जैसे हम किसी ऐसी वस्तु को लें, जो साधारणतया सुखकारी मानी जाती है, परंतु अंततः वह दुखों को उत्पन्न करती है। ऐसे दुख को विपरिणाम दुखता के नाम से संज्ञेय किया जाता है। उदाहरण के लिए नई गाड़ी खरीदना, सुख की अनुभूति देता है, इसके खरीदने पर आनंद होता है, खुशी होती है, परंतु ज्यों-ज्यों इसका प्रयोग करते हैं, वह परेशानियां उत्पन्न करती है और हमारे सुख की वह अनुभूति काफूर हो जाती है। स्पष्टतः इसमें परिवर्तन से उनके दुख की प्रकृति स्पष्ट होती है। यह सुखावेदना विपरिणाम दुखता के कारण दुखता है, अतः बौद्ध धर्म में स्थापना है कि 'सुखावेदना उत्पाद-सुखा और स्थिति सुखा है, किंतु परिणाम-दुखा है।'

(III) संस्कार दुखता—तीसरे प्रकार का दुख पहले दोनों प्रकार के दुखों के आधार का कार्य करता है और दूषित मानसिक तथा शारीरिक संबंधों से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है, इसे संस्कार दुखता कहा जाता है। यह सभी प्राणियों में व्याप्त है और यह संस्कारित है, क्योंकि यह वर्तमान दुखों का आधार तथा आगामी दुखों को उत्पन्न करता है। पुनर्जन्म की संतति की समाप्ति के अतिरिक्त इस प्रकार के दुख से बचने का कोई मार्ग नहीं है। अदुखासुखावेदना भी दुखता है, क्योंकि प्रत्ययों से इसका अभिसंस्करण होता है। यह संस्कार है। जो अनित्य है वह दुख है, इस प्रकार काय और चित्त की दुखावेदना अनुभव दुख है, शेष दुख है, क्योंकि वे भयावह है।

इन तीन प्रकार के दुखों को 'दुखमेव दुखता', 'विपरिणाम एव दुखता' एवं 'संस्कार एव दुखता' के रूप में भी पुकारा जाता है, परंतु इनका गृहीत अर्थ वही है, जो ऊपर विवेचित किया जा चुका है। मानव धर्म दुख दुखता को असाधारण है, अमानव धर्म परिणाम दुखता को असाधारण है, द्वितीय दुखता प्रथम धर्मों की है और प्रथम दुखता द्वितीय धर्मों की है। किंतु संस्कृत-संस्कारता दुखवश दुख है और केवल आर्य ही इनको आकार में देखते हैं। संस्कार दुखता का अनुभव सभी को नहीं होता, परंतु आर्यों को यह पीड़ा पहुंचाता है। जिस प्रकार हथेली पर रखा हुआ ऊर्णापक्ष्य का प्रतिसंवेदन नही होता है, किंतु यही जब आंख में गिर जाता है, तो पीड़ा पहुंचाता है एवं अपकार करता है, उसी प्रकार यह दुखता पीड़ादायक है। मूर्ख हाथ के सदृश संस्कारदुखताभूत ऊर्णापक्ष्य का अनुभव नहीं करता है, किंतु आर्यों को चक्षु के सदृश यह पीड़ा पहुंचाते हैं।

आर्यसत्यों में अंतर्भूत धर्म—तथागत बुद्ध ने अपने दर्शन को चार आर्यसत्यों से पूर्णतः परिवेष्टित किया था। संसार के तट से निर्वाण के तट तक ले जाने वाला उनका धर्म करुणा का एक सेतु है। जीवन के अपरिहार्य दुख के दर्शन से उनके धर्म का प्रारंभ होता है। दुख की प्रवृत्ति समझकर उसकी निवृत्ति के लिए प्रयत्न ही धर्मचर्या है, जो कि संबोधि में चरमता को प्राप्त होती है और अनुत्तर शांति पद की परमार्थ है। इस प्रकार दुख, समुदय, निरोध और निरोधगामिनि प्रतिपदा—इन चार विभागों में बुद्ध देशना प्रतिध्वनित है। इन चारों आर्यसत्यों का उपदेश शास्ता ने दिया, अतः बौद्ध धर्म की संपूर्ण व्याख्या इन सत्यों के माध्यम से हो जाती है। बौद्ध धर्म की विभिन्न विचार-वीथियों में धर्म हेतु प्रयुक्त विभिन्न संकल्पनाओं को इन आर्यसत्यों में अंतर्भूत करके समझाने का प्रयास बौद्ध धर्म के विभिन्न निकायों के आचार्यों ने विलक्षण ढंग से किया है, परंतु हमारे सामने उनका संक्षिप्त या विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है। इस संबंध में भी बौद्ध साहित्य के अन्वेषण का कार्य नहीं हुआ है और समेकित रूप से जनता के सामने लाने के लिए प्रतिबद्ध सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता है। फिर भी यतस्ततः हमारी जानकारी में आता है कि तथागत के बाद में भी आचार्यों ने बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए विविध रूपा व्याख्याएं एवं धारणाएं प्रतिपादित की थीं।

आर्यसत्यों में कौन से धर्म अंतर्भूत हैं, यह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अनुसंधेय किया जाना चाहिए। यह इसलिए

भी आवश्यक है कि आजकल कई अध्येता 'अकादमिक ईमानदारी' से च्युत होते हुए यह भी लिखते हुए देखे गए हैं कि बौद्ध धर्म तो वैदिक धर्म के आधार पर ही खड़ा है। ऐसे लोग अपनी धारणाओं को तर्कसंगत करके बताने में बड़े कुशल हैं। आर्यसत्यों में अंतर्भूत धर्मों का अध्ययन इस दृष्टि से ऐसे लोगों के लिए एक अकादमिक जवाब हो सकता है। यहां इन सब पर चर्चा विषयेत्तर होगी, परंतु यह बताना समीचीन है कि 'विभाषा के अनुसार दार्ष्टांतिक निकाय में दुख सत्य के अंतर्गत नामरूप, समुदाय सत्य के अन्तर्गत कर्म और क्लेश, निरोध सत्य के अंतर्गत इनका क्षय एवं मार्ग सत्य के अंतर्गत शमथ और विपश्यना परिगणित होती है। विभज्यवादी पहले सत्य से दुख के आठ लक्षणों से युक्त सास्रव धर्मों को छोड़कर शेष को दुख मानते थे न कि दुख सत्य। पौनर्भविकी तृष्णा को वे समुदय मानते थे, शेष अन्य तृष्णाओं को केवल सास्रव हेतु। तृष्णा के क्षय को वे निरोध सत्य मानते थे, अन्य क्षयों को केवल निरोध एवं आष्टांग मार्ग को ही मार्ग सत्य, अन्य शैक्ष धर्मों को और सब अशैक्ष धर्मों को केवल मार्ग। अभिधर्माचार्य प्रथम सत्य में उपादान स्कंध, दूसरे में सास्रव हेतु, तीसरे में प्रतिसंख्या निरोध और चौथे में अर्हत्त्व-प्रापक समस्त शैक्ष और अशैक्ष धर्म गिनते थे। धर्मों के बारे में उनकी ये धारणाएं और व्याख्याएं किसी वेद या उपनिषद के आधार पर विश्लेषित नहीं की जाती थीं, अपितु भगवान बुद्ध के विभिन्न संदर्भों में दिए गए उपेदशों के माध्यम से अंगीकार की जाती थी। उनका प्रमाण वेद या उपनिषद न होकर बुद्ध-वचन ही हुआ करते थे।

तथागत द्वारा उपदिष्ट इन आर्यसत्यों में बौद्ध धर्म के संपूर्ण तत्वों का समावेश होता है, इसे सभी निकायों के आचार्य मानते हैं, परंतु उनकी व्याख्या अलग-अलग ढंग से करते हैं। जिस प्रकार से वेद आधारित सभी संप्रदाय अपने दर्शन् के तत्त्वों की व्याख्या अलग ढंग से करते हैं, परंतु उन सबकी अंतिम निष्पत्ति वेद या उपनिषदों में होती है, अतः वे वैदिक दर्शन किंवा हिंदू दर्शन कहे जाते हैं, वैसे ही बौद्ध धर्म के इन विभिन्न निकायों के आचार्यों की व्याख्या को बौद्ध धर्म के तत्त्वों के संबंध में समझना चाहिए। सभी आचार्य उपनिषद और ब्राह्मण के तत्त्व ज्ञान सत्-चिद्-आनंद से उल्टे तत्त्वों अ-सत् (अनित्य प्रतीत्यसमुत्पन्न), अ-चित् (अनात्म), अन्-आनंद (दुख) और अनित्य-दुख-अनात्म की उद्घोषणा करते हैं। बौद्ध धर्म के विभिन्न निकायों के आचार्यों की इन व्याख्याओं का प्रभाव उत्तरकालीन हिंदू दर्शन पर स्पष्ट झलकता है। आर्यसत्यों का ज्ञान स्पष्ट करता है कि कोई भी ऐसा अस्तित्व नहीं है, जिसको यथार्थ अथवा वास्तविक सत्य के रूप में समझा जाए। जो भी तत्त्व हैं, वे केवल सत्वहीन घटनाएं हैं, जिन्हें तथागत ने धम्म कहा और इसी परिप्रेक्ष्य में आर्यसत्य उनकी उद्घोषणा का व्यवस्थित रूप है।

आर्यसत्यों का प्रथम उपदेश

भगवान बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस अमृत ज्ञान का उपदेश भवार्णव जगत् में किया जाना चाहिए। बुद्ध होने के बाद उन्होंने अपने ज्ञान के अधिकारी की खोज की एवं उन पांचों परिव्राजकों को, जो उन्हें गया में छोड़ गए थे, उपदेश देने ऋषि-पतन (सारनाथ) चल पड़े। पांचों परिव्राजक वहां पर मिल गए, वे सभी तथागत के अनशन त्यागने के कारण गया से यहां आ गए थे। जब तथागत उनसे मिले, तो उनका पहला उपदेश उसी शंका को हटाने के लिए था। तथागत ने उन्हें बताया—

"भिक्खुओ ! इन दो अतियों (=चरम पंथों) को.......नहीं सेवन करना चाहिए—(I) ......काम-सुख में लिप्त होना. .... (II) शरीर पीड़ा में लगाना। इन दोनों अतियों को छोड़ ...... (मैंने) मध्यम मार्ग खोज निकाला है (जो कि) आंख देने वाला, ज्ञान कराने वाला .... शांति देने वाला है। ......वह (मध्यम मार्ग) यही आर्य (=श्रेष्ठ आष्टांगिक) मार्ग है, जैसे—ठीक दृष्टि, ...ठीक स्मृति और समाधि।"

इसी प्रथम उपदेश में तथागत ने चार आर्यसत्यों का निरूपण किया। प्रख्यात 'धर्मचक्रप्रवर्त्तनसूत्र' में इनका प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

(I) "भिक्खुओ ! यह रहा दुख संबंधी आर्यसत्य—जन्म दुख है, बुढ़ापा दुख है, बीमारी दुख है, मौत दुख है, अप्रिय जनों से मिलना दुख है, प्रियजनों से बिछुडना दुख है, अभीष्ट वस्तु का न पाना दुख है। संक्षेप में पांच उपादान स्कंध दुख हैं।"

(II) "भिक्खुओ ! यह रहा दुख उत्पत्ति संबंधी आर्यसत्य—जन्म की तृष्णा जन्म से जन्मांतर की ओर ले जाती है और इन जन्म-जन्मांतरों में वासनाओं की पूर्ति, इच्छाओं की पूर्ति जहां-तहां होती है, सुख की तृष्णा, जन्म की तृष्णा, शक्ति की तृष्णा।"

(III) "भिक्खुओ ! यह रहा दुख के निरोध संबंधी सत्य—दुख का निरोध होगा, तृष्णा को बुझाने से। तृष्णा को बुझाना होगा, इच्छाओं को पूरे तौर पर मारने से, उनको निकाल भगाने से, अपने को उनसे अलग रखने से, उनको प्रश्रय न देने से।"

(IV) "भिक्खुओ ! यह रहा दुख निरोध के मार्ग संबंधी सत्य—यह आठ अंगों वाला मार्ग है : सम्यक दृष्टि (अर्थात सही समझ), सम्यक संकल्प (अर्थात सही विचार), सम्यक वाणी, सम्यक कर्मांत (अर्थात सही शारीरिक क्रिया), सम्यक आजीव (अर्थात सही आजीविका), सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति (अर्थात सही सावधानी), सम्यक समाधि (अर्थात सही एकाग्रता)।"

बौद्ध दर्शन में आर्यसत्यों को जगत् में प्रकाशित करने वाला तथागत बुद्ध का यही पहला उपदेश है। इसमें दुख को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। सारा बौद्ध दर्शन इन चार आर्यसत्यों की गवेषणाओं की व्याख्याओं से भरा पड़ा है, अस्तु, इन्हें क्रमिक रूप में यहां पर विश्लेषित किया गया है।

प्रथम आर्यसत्य : दुख

सामान्य विवेचन—प्रथम आर्यसत्य दुख है। इस संसार में जन्म लेना दुख है, बुढ़ापा दुख है, मरण दुख है, शोक करना दुख है, विलाप करना दुख है, कष्ट होना दुख है, चिंतित होना दुख है, व्यग्र होना दुख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुख है, प्रिय से वियोग होना दुख है, अप्रिय से संयोग दुख है। इस प्रकार जागतिक प्रपंच की ये घटनाएं दुख कही जाती हैं। तथागत ने प्रथम बार यह अभिसंज्ञान किया कि मानव तथा मानवेतर जीवन दुख से परिपूर्ण है। अपने इस संबोधि ज्ञान को वह जगत् के उद्धार हेतु उपयोग में लेना चाहते थे। अस्तु, जन-मानस में दुख के इस अभिज्ञान को जीवन की विभिन्न दारुण स्थितियों के रूप में उपदिष्ट किया। ये भयावह परिस्थितियां आज भी मानव के सम्मुख ज्यों की त्यों खड़ी हैं। इनके अलावा सांसारिक सुख के बारे में भी तथागत की देशना है कि वह सुख यथार्थ सुख नहीं है। ये सांसारिक सुख क्षणिक होते हैं एवं अनित्य हैं। उनके नष्ट हो जाने पर दुख होता है। ऐसे सुखों के साथ बराबर यह चिंता लगी रहती है कि कहीं वे नष्ट न हो जाएं। इस तरह के अनेक दुख परिणाम हैं, जिनके कारण सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं समझे जा सकते हैं, वे आशंका और चिंता के मूल हैं।

इस दुख का वर्णन त्रिपिटक में अनेक बार आया है एवं विभिन्न निकायों में इस पर गंभीर व्याख्या मिलती है। तथागत ने अपनी देशना में इसकी विभिन्न उपागमों से व्याख्या की है। इस आर्यसत्य की व्याख्या करते हुए, उन्होंने एक जगह ऐसे उपदिष्ट किया—"भिक्खुओ ! चिरकाल तक माता के मरने का दुख सहा, पिता के मरने का दुख सहा, पुत्र के मरने का दुख सहा, पुत्री के मरने का दुख सहा, कुटुंबियों के मरने का दुख सहा, संपत्ति के नाश होने का दुख सहा.....। इन सभी प्रकार के दुखों को सहने वाले संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग तथा अप्रिय के संयोग के कष्ट सहे हैं, आंसू बहाए हैं। इस प्रकार दीर्घकाल तक दुख का अनुभव किया है।" दुख की विभीषिका पर तथागत द्वारा बार-बार प्रकाश डालने का अभिप्राय इस सच्चाई में छुपा है कि यह एक गंभीर सत्य है एवं पहला सत्य है—आर्यसत्य है। दुख सत्य ही तथागत की पहली शिक्षा है, उनके उपदेशों में यह प्रथम सोपान है, जिसको भली-भांति समझे बिना अन्य आर्य-सत्यों का ज्ञान असंभव है।

दुख को इस प्रकार से व्यक्त घटनाओं और स्थितियों के माध्यम से उपदिष्ट कर तथागत यह उपदिष्ट करते हैं कि ये बहुत सी भयावह स्थितियां या तकलीफदेह घटनाएं विचारों के संसार का सृजन करती हैं। जिनसे यह जगत् बनता है, वह पंचस्कंध ही है। पंचस्कंधों में ही जन्म, रोग, मृत्यु, शोक, क्लेश, आकांक्षा, नैराश्य आदि उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे आस्रव या क्लेश के वशीभूत होते हैं। ये सास्रव स्कंध जिनसे आसक्ति उत्पन्न होती है—दुख है। सास्रव स्कंध उपादान कहलाते हैं, जिन्हें हम चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन कहते हैं, वे ही रूप

उपादान, वेदना उपादान, संज्ञा उपादान, संस्कार उपादान और विज्ञान उपादान स्कंध के रूप में परिज्ञात होते हैं। ये उपादान स्कंध भी अनित्य, अध्रुव, दुख, अनात्मक एवं शून्य हैं। ये घास-फूस से बनी दीवार (तृणकुड्य) के जैसे निश्चेष्ट व जड़ स्वभाव के हैं। हेतु के प्रत्यय से ये उत्पन्न होते हैं, जो अंतदृष्टि से तथा अनंतदृष्टि से रहित हैं। इनमें न तो कोई कर्त्ता है और न कोई भोक्ता है। जन्म, बुढ़ापा, बीमारी आदि इन स्कंधों से ही हैं। इस प्रकार स्कंधों के प्रत्यय से दुख उत्पन्न होते हैं। अस्तु, पंचस्कंधात्मक शरीर दुख है, उत्पत्ति या जाति दुख है। ये उत्पन्न होते हैं और तृष्णा के पानी से बढ़ते हैं, ये यथार्थ या वास्तविक सत्य नहीं हैं। धम्म समता के मार्ग से देखा जाए, तो ये स्वभाव से अत्यंत क्षीण हैं और धर्म होने के कारण निरुद्ध से हैं। इनमें नित्यता या पूर्णता का भाव अथवा सुख की अव्याप्ति ही है। संसार-सागर में ये घटनाएं एक क्रम से चलती रहती हैं और एक घटना दूसरे का कारण बन जाती है। वस्तुतः ये दुख है, ये अनित्य है, सारहीन व सास्रव है। अतः संक्षेप में कहा जाए, तो पंच उपादान स्कंध या शरीर ही दुख है।

अतः इन पंच उपादान स्कंधों या जन्म से छुटकारा पाने के लिए पहले इस सच्चाई को जानना आवश्यक है कि दुख वास्तव में क्या है ? अतः तथागत ने प्रथम आर्यसत्य दुख को ही उपदिष्ट किया और निर्वाण की राह पर चलने वाले को भी सबसे पहले इसी का अभिसमय करना होता है, तभी वह अन्य सोपानों की ओर अग्रसर होता है।

दुख आर्यसत्य की प्रकृति या आकार

पहले आर्यसत्य पर ही भगवान बुद्ध का संपूर्ण दर्शन अवधारित है। भगवान ने धर्मचक्रप्रवर्तन के समय कहा,"हे भिक्खुओ ! यह दुख है, ऐसा मुझमें पहले से अनसुने धर्मों में योनिशः मनसिकार से (=ठीक-ठाक मनन करने से) बहुलीकार से (=बहुत-बहुत चिंतन अर्थात बारंबार चिंतन से) ज्ञान उत्पन्न हुआ, चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान की विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव उत्पन्न हुआ।"

"हे भिक्खुओ ! इस दुख का परिज्ञान करना चाहिए......।"

"हे भिक्खुओ ! इस दुख का परिज्ञान हो चुका है......।" ऐसा साक्षात करना चाहिए। वे बोले—"हे भिक्खुओ ! इस प्रकार जब तक मुझमें...... आर्यसत्यों में योनिशः मनसिकार करते हुए...... ज्ञान दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ। हे भिक्खुओ, अनुत्तर सम्यकसम्बोधि का मुझे बोध हो चुका है......, जो करणीय था, वह कर डाला गया है। इस भव से अन्य-अन्य भव अब न होगा, ऐसा जानता हूं।"[1]

इस देशना के निरूपण में सब कुछ टिका है। तथागत कहते हैं कि पहले से अनसुने धर्मों में ठीक-ठाक बारंबार चिंतन करने से यह सत्य परिज्ञात हुआ है। दुनिया में विविधरूपा दुख है, दुनिया दुख का सागर है। भारतीय चिंतन परंपरा में उस समय कई तत्त्व-वेत्ता सांसारिक जीवन को दुखमय बताते थे, परंतु चार्वाक जैसे दार्शनिक भी उस समय मौजूद थे, जो इसे नहीं मानते थे। वस्तुतः वेद और उपनिषदों में भी दुखमय जीवन का वीभत्स रूप रेखांकित हुआ है, परंतु उनका दृष्टिकोण बिलकुल ही भिन्न था। तथागत ने 'दुख सत्य' के जिस रूप या आकार को हमारे सामने रखा है, ऐसा स्वरूप उदघाटन किसी भी तत्त्व-वेत्ता ने नहीं किया है। अतः कई बार अपने दायरे में घिरे विद्वत्जन त्रिलोकीनाथ बुद्ध के दुख सत्य स्वरूप निरूपण को घोर निराशावाद का जामा पहना देते हैं एवं यहां तक लिख देते हैं कि बौद्ध धर्म जीवन के अंधकारमय पक्ष को और भी अंधकारमय देखता है। उनकी यह सोच वेद और उपनिषदों के द्वारा दुख के स्वरूप पर छाए पर्दे के कारण ही उत्पन्न है। यह तथागत के दुख सत्य के स्वरूप के निरूपण का ही प्रभाव है कि पश्चातवर्ती हिंदू दार्शनिकों ने इस जगत् को मिथ्या तक कह डाला। वे तथागत के दुख सत्य से विमुख कैसे कहे जा सकते हैं ?

---

1. *ललित विस्तर 784-785*

कुछ विद्वान् तथागत के दुख-सत्य पर महती प्रतिपादन कर यह कहकर आलोचना करते हैं कि 'दुनिया के वास्तविक दुखों को दुनिया से वस्तुतः हटा लेने का उस समय कोई प्रश्न न था।' 'इसलिए धर्मोपदेष्टाओं के पास एक यही मार्ग शेष रह गया था कि वास्तविक समस्या का एक काल्पनिक समाधान आविष्कृत करें और इसकी तैयारी के रूप में मनुष्यों से कहें कि वे अपने व्यक्तित्व को ऐसा रूपांतरित कर लें कि दुखानुभव की प्रतीति ही जाती रहे।' इस अनर्गल तर्क के पीछे कोई ऐतिहासिक सच्चाई नहीं है, क्योंकि अगर तथागत काल्पनिक रूपांतरण की बात ही करते, तो वे तत्कालीन सत्-चिद्-आनंद की अतिरेक व्याख्या में खड़े हो उठते, परंतु हम जानते हैं कि तथागत यथार्थवादी थे और इसलिए उन्हें एक ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं था, जिससे कि की गईं प्रार्थनाएं और जिसे दी गई भेंटें उस दुख को दूर करने में समर्थ होतीं, जिसे उन्होंने सारे संसार में व्याप्त पाया था। अतः ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा या नित्य के स्वरूप को समझने से ज्यादा महत्त्वपूर्ण उन्होंने दुख के स्वरूप को समझना माना। उनका ज्ञान मात्र दार्शनिक नहीं था, बल्कि तत्त्वतः व्यवहारिक था। उन्होंने दुनिया को पीछे मुड़कर झूठी सांत्वना में नहीं बांधा अपितु, इस सच्चाई को गंभीर रूप से समझने की उत्कट ऊर्जा का संचार किया।

तथागत बुद्ध के उपदेश न तो उपनिषदों से निकले हैं और न उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हैं। उनकी देशना मौलिक और स्वघोषित ही नहीं, अपितु जगत् कल्याणकारी है। कई शब्दों की सादृश्यता कई अध्येताओं में यह भ्रम अवश्य पैदा कर देती है कि तथागत के दर्शन की पृष्ठभूमि वेद एवं उपनिषदों से निकली होंगी, परंतु हमें यह सत्य ध्यान में रखना चाहिए कि भाषा की सीमित शब्दावली में व्यवहार्य शब्दों के अर्थ न केवल परिस्थिति और संदर्भ में बदल जाते हैं, बल्कि दर्शन में तो धारणाओं को ही बदल डालते हैं। तथागत के दर्शन में जहां कहीं भी प्राचीन शब्दावली का उपयोग हुआ है, उनका अर्थ पूर्णतः बदल गया है। वेद और उपनिषदों में व्यवहृत दुख तथागत के दर्शन में प्रयुक्त दुख शब्द का पर्याय नहीं है। इस पर ज्यादा चर्चा न करते हुए, यहां पर इस बात पर प्रकाश डालना समीचीन है कि तथागत दुख का आकार कैसा बताते हैं। तथागत के दुख आर्यसत्य के आकार का निरूपण स्वतः यह स्पष्ट कर देता है कि तथागत का दुख सत्य निरूपण न वेदों से निकाला है और वदों की प्रतिक्रिया है। तथागत का दुख सत्य निरूपण न तो निराशावाद को बढ़ाता है और न जीवन के अंधकारमय पक्ष को और अंधकारमय करता है। तथागत का दुख सत्य स्वरूप जीवन के दुख को समझने की गंभीर कुंजी है, जिसका यथार्थ ज्ञान जीवन को प्रकाशमय बनाता है एवं असीम शांति का मार्ग प्रशस्त करता है। तथागत ने दुख सत्य का आकार निरूपित करते हुए बताया—

(I) दुख आर्यसत्य 'अनित्य' है—दुनिया में दुख है, उसका अस्तित्व है, परंतु वह नित्य नहीं है। तथागत ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया कि यह प्रत्यय प्रतिबद्ध होकर उत्पन्न होता है, स्पष्ट है कि इसका जन्म प्रत्ययों के अधीन है, अतः नित्य रहने वाला नहीं है। यह अनात्यंतिक है अर्थात यह अत्यांतिक नहीं है। यह आर्यसत्य इसलिए भी अनित्य है, क्योंकि इसका उत्पाद और निरोध होता है। सदा नित्य की भावना करने वाले पुद्गल चरितों के लिए यह चिकित्सा है। निर्वाण की ओर अभिमुख सत्त्व के लिए इस आर्यसत्य के इस स्वरूप का ज्ञान परम आवश्यक है। इस सत्य का ऐसा स्वरूप ज्ञात होने पर व्यक्ति आशा और उत्साह से संचरित होता है, जो इस स्वरूप को नहीं जानता है वही अपने जीवन को अधिक अंधकारमय बनाएगा। ऐसा ज्ञान रखने वाला अपने आप में आलोक, प्रज्ञा और प्रकाश को प्रदीप्त किए बगैर नहीं रह सकता है। इस सत्य के आकार का एक स्वरूप उसका अनित्य होना जीवन के विभ्रमों और विप्रयासों को विखंडित करता है।

(II) दुख आर्यसत्य 'पीड़नात्मक' है—दुख आर्यसत्य का यह आकार दूसरा आकार या स्वरूप है, जिसे ही लोक में दुख के नाम से अभिधेय किया जाता है और भारतीय दर्शन परंपरा में दुख के इस स्वरूप को अतिरंजित करके ही दुख की व्याख्या की जाती है। दुख आर्यसत्य का यह आकार उसके पीड़नात्मक स्वरूप से लक्षित होता है, अर्थात जिसका स्वभाव पीड़ा पहुंचाने का है, वह दुख है। दुख के इस स्वरूप को 'भारभूत' भी कहा जाता है। यह आर्यचित्त को पीड़ा पहुंचाता है। आर्यचित्त को इसमें सुख की अनुभूति नहीं होती है। पंचस्कंधात्मक शरीर प्रेम, मोह और आसक्ति

से व्याप्त है। आर्य चित्त को जब तक दुख के इस आकार का ज्ञान नहीं होता है, तब तक वह उसमें आसक्त रहता है एवं ज्योंही उसे इस स्वरूप का ज्ञान होता है, यह पंचस्कंधात्मक देह यष्टि उसे पीड़ा देने लग जाती है, उसके लिए वह 'भारभूत' बन जाती है। अतः दुख के साक्षात्कार में उसका पीड़नात्मक स्वरूप स्पष्ट होता है। इस पीड़नात्मक स्वरूप से वह दुख से मुंह नहीं मोड़ता है, बल्कि उससे पार जाने की ललक उसमें पैदा होती है। दुख सत्य का यह स्वरूप उसमें पलायन नहीं, बल्कि परिष्कार के अंकुर पल्लवित करता है। यथार्थ अनुभूति में उसका चिंतन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रक्षालित करता है।

(III) दुख आर्यसत्य 'शून्य' है—दुख के स्वरूप विवेचन एवं व्याख्या में बौद्ध धर्म में इसे शून्य आकार का भी कहा गया है, यह 'शून्याकार' इस आर्यसत्य की अन्य प्रकृति है। दुख आर्यसत्य को 'शून्य आकार' कहा गया है, क्योंकि यह आत्मीय दृष्टि का प्रतिपक्ष है। दुख आर्यसत्य का अंतर्विवेचन स्पष्ट करता है कि इसमें पुरुष अर्थात कारक आदि का अभाव है। दुख के स्वरूप में किसी 'आत्म' आदि की उपलब्धि नहीं होती है अर्थात यह 'आत्मीय दृष्टि' नहीं है। यह 'शून्य' स्वरूप ज्ञेय होता है, अतः दुख आर्यसत्य को 'शून्य-आकार' के नाम से जाना जाता है।

(IV) दुख आर्यसत्य 'अनात्मक' है—जैसा कि पूर्वोक्त है दुख आर्यसत्य 'आत्मीय-दृष्टि' नहीं है, यह आत्मीय दृष्टि का प्रतिपक्ष है। दुख आर्यसत्य न केवल आत्मीय दृष्टि का प्रतिपक्ष है, अपितु यह आत्म दृष्टि का विपक्ष भी है। यह कामकारी नहीं है और यह 'आत्मा' नहीं है। इसका स्वरूप अनात्मक है। इसका यह आकार सर्वव्यापक है। इसमें किसी 'आत्मा' आदि की अनुभूति भी नहीं होती है। इस प्रकार दुख का यह एक चौथा आकार स्पष्ट होता है, जिसे बौद्ध धर्म में दुख के अनात्मक आकार के रूप में जाना जाता है एवं तदनुसार इसकी व्याख्या की जाती है।

त्रिपरिवर्त और द्वादशाकार—दुख आर्यसत्य के तीन परिवर्त हैं—(I) यह दुख आर्यसत्य है, (II) यह परिज्ञातव्य है और (III) यह परिज्ञात है। प्रत्येक परिवर्त में चक्षु, ज्ञान, विद्या बुद्धि का उत्पाद होता है, अतः ये आकार 12 हैं। अर्थात यह दुख है, ऐसा पहले से अनसुने धर्मों में योनिशः मनसिकार से, बहुलीकार से ज्ञान उत्पन्न होता है, चक्षु उत्पन्न होता है, विद्या उत्पन्न होती है ....प्रज्ञा उत्पन्न होती है। तदुपरांत इस दुख का परिज्ञान करना चाहिए, ऐसा प्रादुर्भाव होता है अर्थात यह परिज्ञातव्य है, इससे उसमें चक्षु, ज्ञान, विद्या और बुद्धि का उत्पाद होता है। वे परिज्ञात होने पर उससे दुख का परिज्ञान हो चुका है, इसका उत्पाद होता है और इस आर्यसत्य के इस परिज्ञात उत्पाद से उसमें चक्षु, ज्ञान, विद्या और बुद्धि का उत्पाद होता है। इस प्रकार प्रत्येक परिवर्त में चार-चार आकार समाविष्ट होने से यह द्वादशाकार कहा जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि तथागत दुख पर इतना अधिक जोर क्यों देते हैं ? इसकी गहराई में जाने पर जीवन में साहस एवं विश्वास की जागृति होती है, अगर दुख के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचाना जाए, तो दुख नैराश्य एवं जड़ता पैदा करता है एवं उकता देने वाला लगता है, परंतु दुख को उसके आकार में जानने पर उससे उन्मुक्ति की उमंग जगती है, वह आशा जीवन में नई स्फूर्ति एवं स्पंदन प्रदान करती है। अस्तु, तथागत द्वारा उपदिष्ट दुख आर्यसत्य की गंभीरता का पक्ष उसके आकार को पहचानने के अभिप्रेत से है। उनके द्वारा उपदिष्ट दुख जीवन की निरर्थकता का उपदेश नहीं है और न ही जीवन को विनिष्ट करने का उपदेश है, उनका संदेश तो दुख की वास्तविकता को जानने के गूढ़ में है, जिसे किसी वेद या उपनिषद ने नहीं जाना था। यही कारण है कि तथागत ने इस ज्ञान को अनुत्तर कहा व इस सच्चाई को प्रथम आर्यसत्य कहा।

दुख को बौद्ध धर्म में व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है एवं निकाय साहित्य में नाना स्थलों पर विविध रूप से विवेचित किया गया है। यह सर्वविदित है। लौकिक दृष्टि से दुख साधारण जीवन में आगंतुक तत्त्व है। पृथक्जन एवं लौकिक पंडित सभी दुख को जीवन में एक सीमित तत्त्व मानकर प्रवृत होते हैं। हमारे वेद एवं उपनिषद साहित्य में जीवन के अपरिहार्य दुख के समक्ष मनुष्य सर्वथा असहाय माना गया है, अस्तु, उसे धैर्य का उपदेश दिया जाता है, जिसे वैदिक धर्म की परमोत्कर्ष अवस्था बतलाया जाता है। मनुष्य को यह भी उपदिष्ट है कि वह इस आगंतुक दुख को प्रयत्नपूर्वक हटाए और सुख का लाभ करे। रोग, दारिद्रय, असुरक्षा आदि भयावह स्थितियों का उपाय कर मनुष्य दुख निवृत्ति को प्राप्त करना चाहता है, परंतु बौद्ध धर्म एवं दर्शन का

मात्र यह स्वरूप नहीं है। इसके वास्तविक विराट स्वरूप को आर्यचक्षु ही देख सकते हैं। यह दृश्यमान दुख अनादि प्रवाह है, जिसे अन्य निवृत्तिपरक आध्यात्मिक प्रस्थानों की अपेक्षा बौद्ध धर्म में व्यापकता से विश्लेषित किया गया है। यह बौद्ध धर्म का वैशिष्ट्य है।

दुख रूप—दुख को 'रूप दुख' के अभिनिहितार्थ व्यापक रूप से बौद्ध धर्म में विवेचित करने का मुख्य कारण दुख बहुल संसार में दुख के वास्तविक स्वरूप को संज्ञेय करना अभीष्ट है। इसी दृष्टि से सारांश में कहा जाता है कि पांचों उपादान स्कंध दुख हैं। कभी-कभी इसकी व्याख्या सर्व दुख के रूप में भी की जाती है, परंतु इसका अभीष्ट यही है कि जो कुछ पंच स्कंध हैं, वे ही सर्व दुख है। पंच स्कंध हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, यही पांचों उपादान स्कंध हैं एवं यही दुख का मूल है। पांचों स्कंध जब व्यक्ति की तृष्णा के विषय होकर पास आते हैं, तो इन्हें उपादान स्कंध कहते हैं। तथागत ने इन पांचों उपादान स्कंधों को 'दुख-रूप' कहा है, जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्न है—

(I) रूप—रूप में चार महाभूत यथा पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि है। रूप स्कंध जब सास्रव होते हैं, तो वह रूप उपादान स्कंध कहलाता है। रूप के द्वारा पांच इंद्रियां, उनके पांच विषय एवं अविज्ञप्ति का ग्रहण होता है।

(II) वेदना—हम वस्तुओं या उनके विचार के संपर्क में आने पर जो सुख, दुख या अदुखासुख अनुभव करते हैं, वही वेदना स्कंध है।

(III) संज्ञा—संज्ञा को 'निमित्तोद्ग्रहणात्मिका' कहा गया है। निमित्त से वस्तु की विभिन्न अवस्थाएं सूचित की जाती हैं। उद्ग्रहण का अर्थ परिच्छेद है। वेदना के बाद हमारे मस्तिष्क पर पहले से ही संस्कारों द्वारा जो हम पहचानते हैं, यथा—'यह वही देवदत्त है' इसे संज्ञा कहते हैं।

(IV) संस्कार—रूपों की वेदनाओं और संज्ञाओं का जो संस्कार मस्तिष्क पर पड़ता है और जिसकी सहायता से हम पहचानते हैं कि 'यह वही देवदत्त है', इसे संस्कार कहते हैं।

(V) विज्ञान—प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति विज्ञान कहलाती है, इसे चेतना या मन के नाम से भी जाना जाता है एवं कई बौद्धेतर विचारक इसे अपने 'आत्मा' तत्त्व से समीकृत भी करते हैं, परंतु बौद्ध धर्म में इसकी भी सत्ता नहीं मानी गई है।

ये पांच तत्त्व या पंच स्कंध ही उपादान स्कंध कहे जाते हैं एवं अपने उपादान स्वरूप में 'दुख-रूप' कहे जाते हैं। ये सभी अनित्य, अध्रुव, अनात्मक व परिवर्तनशील हैं। अनित्य जगत् में दुख का प्रवाह है। वह स्वभाव में दुख-दुखता, विपरिणाम दुखता या संस्कार दुखता से प्रकर्षित हैं, अतः उपादान स्कंध दुख रूप है।

दूसरा आर्यसत्य : दुख समुदय

सामान्य विवेचन—जब तथागत ने दुख आर्यसत्य का ज्ञान प्राप्त किया, तो उन्होंने इसका अवधान किया एवं पाया कि ये सारी घटनाएं एक क्रम में हो रही हैं एवं हम यह देखते हैं कि एक घटना अथवा कार्य दूसरे कार्य के लिए कारण रूप हो जाता है और उससे फिर अन्य कार्य की उत्पत्ति होती है। इसे समझना बहुत कठिन है कि इसकी निर्भरता का वास्तविक रूप क्या है। उन्होंने इस पर बार-बार विचार किया कि मनुष्य ऐसी दुख भरी स्थिति में क्यों है ? वे जन्म लेते हैं, बड़े होते हैं, मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इस दुनिया से चले जाते हैं फिर जन्म लेते हैं और फिर दुख से प्रतिपन्न हो जाते हैं। इसका कोई कारण होना चाहिए, ये अकारण नहीं हो सकता है। संसार में कोई भी घटना अकारण नहीं है। प्रत्येक कार्य का कोई कारण है और प्रत्येक कारण का कोई कार्य है। तथागत ने अपनी संबोधि में इसे परिज्ञात किया कि इस कारण के नियम सूत्र में संपूर्ण संसार बंधा है, दुख आर्यसत्य भी इससे परे नहीं हो सकता है। इस प्रकार अपनी प्रज्ञा से उन्होंने इस आर्यसत्य में इसी कारण पर विचार किया।

यदि मृत्यु और जरा है, तो इसके होने का कारण क्या है, इस पर तथागत ने पुनः ठीक-ठीक मनन किया, बार-बार विश्लेषण किया कि किसकी सत्ता के आधार पर जरा-जीर्णता एवं मृत्यु आ उपस्थित होती है और किसके ऊपर ये निर्भर है ? जन्म होने पर ही जरावस्था एवं मृत्यु भी संभव हो सकती है और इसलिए जन्म के ऊपर

ही ये निर्भर है अर्थात वे इस परिणाम पर पहुंचे कि जरा और मृत्यु तभी हो सकती है, जबकि जन्म हो। अतः जरा और मृत्यु जन्म (जाति) पर निर्भर करती हैं। उन्होंने पुनः मनन किया कि यदि जन्म का अस्तित्व है, तो जन्म अथवा जाति किस पर निर्भर करती है, इसका हेतु क्या है ? इस पर मनन करने पर उन्होंने पाया कि जन्म तभी हो सकता है, जबकि जन्म से पूर्व कोई अस्तित्व हो, जिसे उन्होंने भव के नाम से संज्ञात किया और पाया कि भव जाति का हेतु है। फिर उन्होंने बहुलीकार चिंतन से ज्ञात किया कि यह पूर्वस्थित भव किस पर निर्भर है ? अथवा वह कौन सी वस्तु है, जिसके होने पर भव की उत्पत्ति होती है और उन्होंने जाना कि भव का हेतु है। उन्होंने मनन किया कि अस्तित्व तब तक नहीं हो सकता है जब तक कि उसका कोई आधार नहीं हो, जिसे तथागत ने उपादान के नाम से संबोधित किया। फिर उन्होंने सोचा कि उपादान का हेतु क्या है और पाया कि उपादान तण्हा (तृष्णा=वासना) पर निर्भर है। यदि तृष्णा नहीं, तो उपादान संभव नहीं है। परंतु फिर यह इच्छा या तृष्णा किस पर निर्भर है, तथागत ने यह अवधारित किया कि तृष्णा के लिए वेदना आवश्यक है। वेदना की अनुभूति के लिए ज्ञानेंद्रियों का संपर्क अर्थात इंद्रियजन्य चेतना, जिसे स्पर्श कहते हैं, वह आवश्यक है। यदि इंद्रियजन्य चेतना न हो, तो अनुभूति नहीं होती, अतः यह स्पर्श किस पर निर्भर है, इस पर मनन किया। तथागत ने जाना कि स्पर्श के छः क्षेत्र हैं, जिन्हें उन्होंने 'आयतन' नाम दिया। पुनः इस पर मनन किया कि ये 'षडायतन' किस पर निर्भर हैं, इनका आधार क्या है ? तब इस नतीजे पर पहुंचे कि आयतनों के लिए 'नाम-रूप' होना आवश्यक है। 'नाम-रूप' ही छः आयतनों का आधार है। इसे अवधारित कर वे पुनः मनन करने लगे कि ये 'नाम-रूप' किस पर आधारित है, इसका हेतु क्या है ? उन्होंने जाना कि इनका आधार चेतना है। वह इनका हेतु है, जिसे तथागत ने 'विज्ञान' का नाम दिया। विज्ञान का कारण ढूंढने पर उन्हें मालूम हुआ कि इनका आधार 'संखार' (संस्कार) है। संस्कारों के कारण को खोजने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका आधार 'अविद्या' है।

इस प्रकार उन्हें दुख का कोई एक कारण नहीं दिखा, बल्कि कारणों की एक श्रृंखला दिखी। अतः उन्होंने दुख के कारणों के समुदय को 'दुख-समुदय' के रूप से जाना। यह जो पौनर्भविक तृष्णा है, बार-बार जन्म लेने की तृष्णा, नंदीराग अर्थात सुख की आसक्ति से युक्त, ठौर-ठौर पर सुख चाहने वाली तृष्णा दुख समुदय है। इसी समुदय के कारण जन्म-मरण होता है। अतः इसे जन्म-मरण चक्र, भवचक्र या अलात-चक्र भी कहते हैं। तथागत ने उपदिष्ट किया कि हेतु के प्रत्यय से ये सब धर्म 'पदार्थ' उत्पन्न हुए हैं, ये अंत-दृष्टि से तथा अनंत-दृष्टि से रहित, आकाश जैसे शून्य स्वभाव के हैं। स्कंधों के प्रत्यय से दुख उत्पन्न होते हैं और तृष्णा के पानी से बढ़ते हैं। अयोनिशः कल्पनाओं से अर्थात ठीक-ठीक न की गई कल्पनाओं से उपजने वाले संकल्प से अविद्या होती है, इसका कोई एक उत्पादक नहीं है। यह अविद्या संस्कारों को हेतु भाव प्रदान करती है, जिनके बिना आवागमन नहीं हो सकता। संस्कारों के संक्रमण अर्थात आवागमन के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। विज्ञान से नाम-रूप उत्पन्न होता है। नाम और रूप से छः इंद्रियां उत्पन्न होती हैं। छः इंद्रियों से विषयों का सन्निपात स्पर्श कहा जाता है। स्पर्श से तीन वेदनाएं प्रवृत होती हैं। जो कुछ वेदयित (=वेदना या अनुभव) है, वह सब तृष्णा कही जाती हैं अर्थात सब प्रकार की तृष्णा के मूल में वेदना रहती है। तृष्णा से सब दुख स्कंध उत्पन्न होता है, जिसे उपादान कहते हैं। उपादान से सब भव प्रवृत्ति होती है। भव के प्रत्यय से इस व्यवहारिक प्राणी की जाति (उत्पत्ति) होती है। जाति (जन्म या उत्पत्ति) के कारण जरा, व्याधि, दुख, इस भव पञ्जर में नाना प्रकार की योनियों में उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जगत् का यह सब प्रत्यय (कारण सामग्री) से होता है। वस्तुतः न कोई आत्मा और पुद्गल (पुरुष) है और न कोई संक्रमण अर्थात इस शरीर से शरीरांतर में आने-जाने वाला जीव है।

इस प्रकार ये सब भवांग के कारण हैं। यह सब प्रत्यय से होता है, ऐसा तथागत ने बोध किया। यह स्कंध, आयतन या धातु का बोध होना नहीं है, यह हेतु का अवबोध था। दुख के व्यापाक व विस्तृत निरूपण के साथ-साथ जिस प्रकार से उसका सूक्ष्म एवं गंभीरता से परीक्षण पहले आर्यसत्य में किया था, वैसा ही व्यापक महत्त्व, सूक्ष्म विवेचन, एवं विस्तृत निरूपण तथागत द्वारा उसके कारण 'दुख-समुदय' के लिए भी हुआ

है। इस दुख समुदय के बारह अंग हैं। अतः इसे द्वादश निदान भी कहा जाता है। यह हेतु और प्रत्यय से व्याख्या प्राप्त करता है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद के नाम से भी यह जाना जाता है। इसे बौद्ध दर्शन का आधार स्तंभ सिद्धांत माना जाता है। जन्म-मरण का यही निदान है। जन्म अथवा मरण का कारण कोई अदृष्ट शक्ति या ईश्वर नहीं है। हम किसी के भेजने से पृथ्वी पर नहीं आते, किसी के कहने से हम संसार में जन्म नहीं लेते हैं इसके पीछे एक लंबी शृंखला है—उसका कारण मनुष्य स्वयं ही है। इसलिए भगवान बुद्ध मनुष्य को स्वयं अपना स्वामी, अपना नाथ बतलाते हैं। धम्मपद की 'अत्तवग्ग' की गाथाएं इस ज्ञान के प्रकाश में स्वत ही प्रकाशित हो उठती हैं।

तथागत के इस 'दुख-समुदय' उपदेश में विज्ञान का 'गतिवाद' प्रतिपादित है। स्थिर और शाश्वत प्रकृति की जगह सतत प्रवाह की प्रकृति का निरूपण कई वैज्ञानिकों ने अपने अनुसंधानों में अभिधेय किया है। वस्तुतः तथागत का यह आर्यसत्य निरूपण जीवों को और अन्यान्य सब पदार्थों को शक्तियों, गतियों, परिणामों और प्रक्रियाओं के रूप में परिणत करता है और इस प्रकार गत्यात्मक विचार की भी स्थापना करता है। जीवन इनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—यह तो एक भावों की परंपरा है। परिणति के इस निरंतर प्रवाह को ही संसार कहा गया है।

दुख समुदय का आकार

जिस प्रकार 'दुख आर्य-सत्य' के चार आकार बताए गए हैं, वैसे ही इस दूसरे आर्यसत्य दुख समुदय के भी चार आकार बताए जाते हैं। इस आर्यसत्य के आकार को संज्ञावश चार आकार का कहते हैं, वहीं कुछ इसमें एक ही द्रव्य को मानते हैं। उनके अनुसार इस आर्यसत्य के चारों आकार पर्याय मात्र हैं। यह 'हेत्वाकार' है, इनमें अर्थ भेद नहीं है। अस्तु, इस सत्य का सम्मुखीभाव 'एक' आकार से ही करना चाहिए। दूसरी ओर वैभाषिक निकाय आदि इस आर्यसत्य के लिए भी चार आकार ही प्रतिपादित करते हैं, वे हैं—हेतु, समुदय, प्रभव व प्रत्यय।

(I) दुख समुदय 'हेतु' है—'दुख समुदय' में आगमन योग है। इसका बीज धर्म है। इसमें गत्यर्थक भाव है। इसलिए यह प्रतिपादित किया जाता है कि इसका वहां से आगमन हुआ है। यह हेतु 'छंदमूलक' है अर्थात इसके मूल या हेतु छंद-काम (तृष्णा) की चार अवस्थाएं बताई गई हैं—(अ) आत्मभाव छंद, (ब) पुनर्भाव छंद, (स) पुनर्भव छंद व (द) प्रतिसंधि छंद। प्रथम छंद दुख का आदि कारण है, जैसे बीज का आदि कारण है, इसे हेतु कहते हैं। इस प्रकार दुख समुदय का 'हेतु-आकार' अभीष्ट होता है। दुख-समुदय का यह आकार "नास्ति हेतु" इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है। इस आकार से यह स्पष्ट होता है कि दुख का हेतु है।

(II) दुख-समुदय 'समुदय' है—इसका अर्थ है—प्रादुर्भाव करना अर्थात दुख समुदय में 'प्रादुर्भाव-योग' है, यह प्रादुर्भाव करता है। यह सन्निकृष्ट कारण है। दुख समुदय 'समुदय' है, क्योंकि इससे क्षणांतर में धर्म उत्पन्न होता है। अर्थात धर्म समुदित होता है, मानो धर्म अनागत अध्व से निकलता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि इसमें 'उन्मज्जन योग' है।

प्रथम छंद को सुख का मूल कारण बताया गया है, वहीं पुनर्भव छंद, जो बिना किसी विशेष प्रार्थना का छंद है, उससे पुनर्भव का समुदागम होता है। जैसे अंकुर कांडादि का प्रसव वह समुदय परंपरा है, जिससे फल का आगम होता है। इसलिए इसे 'समुदय' कहते हैं, अर्थात 'समुदागम-हेतु'। दुख समुदय आर्यसत्य का यह आकार स्पष्ट करता है कि हेतु एक नहीं है, किंतु 'समुदय' है अर्थात समुदयो-हेतु। दूसरे आर्यसत्य का यह आकार 'एको हेतु ईश्वर प्रधान च' इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है अर्थात ईश्वर आदि कारक प्रधान हेतु है, इस दृष्टि का विपक्ष है।

(III) दुख-समुदय 'प्रभव' है—दुख समुदय का तीसरा आकार 'प्रभव' कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि 'हेतु-परंपरा' है, क्योंकि इसमें 'संतति-योग' होता है। 'प्रबंध-योग' या 'संतति-योग' से इसका 'प्रभव' आकार स्पष्ट होता है। जैसे अंकुर, बीज, कांडादि 'प्रभव' है या प्रसरण है, वैसे ही हेतु परंपरा का भी 'प्रभव' या 'प्रसरन' है। इसका प्रसरण छंद से है। प्रतिसंधि छंद, जो कर्म का अभिसंस्कार है, जिससे फल का संभव उत्पाद होता है—प्रभव है। यह साक्षात् हेतु है, जैसे पुष्प फल का साक्षात् हेतु है, वैसे ही 'दुख-समुदय' का यह आकार साक्षात् हेतु या

प्रभव है। दुख-समुदय का यह 'प्रभव-आकार' परिणाम दृष्टि का प्रतिपक्ष है। यह इस वाद का प्रतिपक्ष है कि आदि भव परिणत होता है, भव का आरंभ होता है।

(IV) दुख-समुदय 'प्रत्यय' है—दुख समुदय के चौथे आकार की व्याख्या उसके 'प्रत्यय-आकार' के रूप में की जाती है। दुख समुदय को 'प्रत्यय' कहा जाता है, क्योंकि हेत्वादि बहुप्रत्ययवश इसकी निष्पत्ति होती है। दूसरे आर्यसत्य के इस आकार से यह स्पष्ट होता है कि हेतु में 'अभिनिष्पादन-योग' होता है। जैसे मिट्टी का पात्र दंड, चक्र, रज्जु, जल आदि प्रत्यय सामग्रीवश 'घट' निष्पन्न होता है, वैसे ही दुख की अभिनिष्पत्ति होती है। दुख समुदय का यह आकार यह बात स्पष्ट करता है कि समुदय उत्पत्ति क्रिया के लिए प्रधानभूत है, वह आधार है, अस्तु, वह प्रत्यय है। तीसरा छंद दुख प्रकार का प्रत्यय है, यथा क्षेत्र, उदक, खाद्यादिक, पाश्यादिक फल के वीर्य, विपाक और प्रभव को निश्चित करते हैं, इसलिए इसे प्रत्यय कहते हैं, वैसे ही दुख समुदय के इस आकार को समझना चाहिए। दूसरे आर्यसत्य 'दुख-समुदय' का यह 'प्रत्यय-आकार' इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि यह लोक 'बुद्धिपूर्वकृत' है अर्थात यह बुद्धिपूर्वक कृत दृष्टि का विपक्ष है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस-उस प्रत्ययवश यह-यह होता है। इससे स्पष्ट होता है कि वस्तु अनेक प्रत्ययजनित है। प्रतीत्य-समुत्पाद के नियम में इसे और स्पष्टता से उपदिष्ट किया गया है।

दुख समुदय आर्यसत्य के इस स्वरूप निरूपण से स्पष्ट है कि दुख का हेतु तृष्णा-काम (भोग) की तृष्णा, भव की तृष्णा, विभव की तृष्णा है। इंद्रियों के जितने प्रिय विषय या काम हैं, उन विषयों के साथ संपर्क, उनका ख्याल तृष्णा को पैदा करता है। कार्य-कारण को तथागत ने अविच्छिन्न संतति मानते हुए यह बताया है कि "इसके होने पर यह होता है" (एक के विनाश के बाद दूसरे की उत्पत्ति) इसी नियम को तथागत ने प्रत्ययसमुत्पाद का नाम दिया।

त्रिपरिवर्त और द्वादशाकार—इस आर्यसत्य में भी तीन परिवर्त होते हैं, वे हैं—(I) यह दुख समुदय आर्य-सत्य है, (II) यह परिज्ञातव्य है और (III) यह परिज्ञात है। एक-एक परिवर्त में चक्षु, ज्ञान, विद्या बुद्धि का उत्पाद होता है, अतः इसके भी बारह आकार हैं। इनकी योजना भी दुख आर्यसत्य की तरह ही है।

प्रतीत्यसमुत्पाद नियम—दूसरे आर्यसत्य के आकार से स्पष्ट हुआ कि हर एक उत्पाद का कोई प्रत्यय है। प्रत्यय और हेतु (=कारण) समानार्थक शब्द मालूम होते हैं, परंतु दुख समुदय के आकार से स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म में प्रत्यय का वही अर्थ नहीं है, जैसा कि दूसरे आध्यात्मिक प्रस्थानों में इस शब्द का अर्थ माना जाता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन बौद्ध दर्शन में लिखते हैं—"प्रत्यय से उत्पाद का अर्थ है, बीतने से उत्पाद—यानी एक के बीत जाने, नष्ट हो जाने पर दूसरे की उत्पत्ति। बुद्ध का प्रत्यय ऐसा हेतु है, जो किसी वस्तु या घटना के उत्पन्न होने के पहले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है।" तथागत ने दुखों की विस्तृत व्याख्या की, दुखों के कारण बताए और उन हेतुओं से दुख किस प्रकार प्रकट होते हैं, यह सब उन्होंने द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में वर्णित किया है, जो एक दूसरे पर अवलंबित हैं। ये बारह अंग हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान (प्राप्त वस्तु से घोर आसक्ति), भव, जाति और जरा-मरण।

प्रत्येक अंग की प्रतीत्य-समुत्पन्नतर का निहितार्थ यह है कि हर अंग पूर्व अंग पर अवलंबित और एक अंग के बिना दूसरे की स्थिति की विद्यमानता संभव नहीं है। जरा-जीर्णता और मरण न हो इसके लिए वास्तविक हेतु सांसारिक पुनर्जन्म जिसे हम नहीं चाहते हैं, को रोकना है, पुनर्जन्म का हेतु बनती हैं अविद्या आस्रव कर्म और क्लेश, इसके लिए हमें अविद्या का निरोध करना होगा। यदि पहला अंग निरोध हो जाएगा तो अन्य ग्यारह अंग स्वयं ही निरुद्ध होंगे। प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर ही आचार्य नागार्जुन ने प्रसिद्ध शून्यवाद को स्थापित किया था। आर्य असंग ने दुख क्यों उत्पन्न होते हैं, इस प्रक्रिया की महत्त्वपूर्ण व्याख्या करते हुए इसकी आधार तीन अवस्थाओं का वर्णन किया था। उनके अनुसार पहली अवस्था है—जड़ता। जड़ता का अर्थ है कि दुख किसी जड़ीभूत कामना के मूलतः उत्पन्न होते हैं न कि किसी सृष्टा द्वारा प्रदत्त होते हैं। वे अपने हेतुओं के कारण विद्यमान रहते हैं।

दूसरी अवस्था है अनित्यता या क्षण भंगुरता। इसका अर्थ है कि दुख अपने ही हेतुओं और अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं एवं ये हेतु और अवस्थाएं अनित्य हैं, क्योंकि जो नित्य है, उससे कुछ परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। तीसरी

अवस्था है विशिष्ट सामर्थ्यता का विद्यमान होना। यह कहना कि हेतु और परिस्थितियां परिवर्तनशील होती हैं, अपर्याप्त
है। परिणाम प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक हेतु और स्थिति में परिणाम विशेष उत्पन्न करने की विशिष्ट
सामर्थ्य हो। कोई एक स्थिति कुछ भी परिणाम उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होती है। दुख समुदय के आकार से ये विशेषताएं
इंगित होती हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का मुख्य अभिप्राय दुख की उत्पत्ति समझना है अथवा इसे हम यों कह सकते हैं कि
यह कार्य कारण का बौद्ध प्रतिपादन है। बुद्ध देशना में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के द्वारा दुख समुदाय के प्रश्न का समाधान हुआ
है, इसकी अनेक प्रकार से व्याख्याएं की गई हैं। उन पर चर्चा करना कलेवर को बढ़ाना है। अतः हम यह कह कर
इसके अंगों पर चर्चा करेंगे कि "जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है।"

सभी निकाय प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं, इसे बौद्ध धर्म की रीढ़ की हड्डी कहा जाता
है, इसे सर्वथा छोड़ देने पर सद्धर्म की रीढ़ ही टूट जाती है। इसे "मध्यम धर्म" अथवा 'मध्यमा प्रतिपद' के नाम से
भी जाना जाता है। संस्कृत में इसे प्रतीत्यसमुत्पाद व पालि भाषा में 'पटिच्चसमुप्पाद' कहते हैं। इसे कारणतावाद का
नियम भी कहते हैं एवं 'इदं प्रत्ययता' नियम भी कहा जाता है। 'इदं प्रत्ययता' का अर्थ है—इसके होने पर यह होना।
तात्पर्य यह है कि कारण के रहने से ही कार्य होगा—अविद्या के रहने से ही संस्कार होगा। संस्कार के रहने से
ही विज्ञान होगा और विज्ञान के रहने से ही नामरूप...... । इस प्रकार जन्म ग्रहण करने से ही जरा तथा मरण होगा।
किसी भी घटना का घटित होना प्रत्यय अधीन है। इसे ही 'तथता', 'अवितथता' और 'अनन्यतथता' भी कहा जाता
है। 'तथता' का अर्थ है कारण के नियमानुसार उत्पत्ति। 'अवितथता' का अर्थ है, प्रत्यय या कारण से अवश्यम्भावी
उत्पत्ति। इसी प्रकार 'अनन्य तथता' का अर्थ है किसी अन्य पदार्थ से अन्य पदार्थ की उत्पत्ति असंभव है। इससे स्पष्ट
है कि किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति उसके प्रत्ययों या कारणों पर निर्भर है। यह दो अतियों का परिहार है। यह
नास्तिकवाद और आस्तिकवाद तथा अकारणवाद और ईश्वरवाद का निषेध करता है। यह इस सिद्धांत के बारह अंगों
के सम्यक ज्ञान में अंतर्निहित है, ये हैं—

(I) अविद्या—बौद्ध धर्म में व्याख्या प्राप्त अविद्या और उपनिषद साहित्य में वर्णित अविद्या में नाम साम्य होने के अलावा अन्य सादृश्यता कम ही मिलती है। बौद्ध धर्म में अविद्या कोई परम सत्ता नहीं है, जबकि उपनिषदों में कहीं-कहीं पर इसे परम सत्ता के रूप में वर्णित किया गया है। उपनिषदों में व्यक्त अविद्या भाव और अभाव के बीच झूलती प्रतीत होती है, वहीं बौद्ध धर्म में अविद्या चार आर्यसत्यों का अज्ञान है। अयोनिशः कल्पनाओं से उपजने वाले संकल्प से अविद्या उत्पन्न होती है, इसका कोई एक उत्पादक नहीं है। यह अविद्या संस्कारों को हेतु भाव प्रदान करती है, जिससे आवागमन होता है। 'हेतु-प्रत्ययता' के सिद्धांत में यह प्रथम अंग माना गया है। बौद्ध धर्म में अविद्या का कारण स्पष्ट है, इसका अंत या निरोध संभव है, यह अनात्म स्वरूप एवं निश्चेष्ट है, अविद्या मिथ्यात्व ही नहीं है, अपितु हेतु प्रत्यय सहित है। अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं, संस्कारों के निरोध से अविद्या का विरोध होता है।

जब यह कहा जाता है कि अविद्या संस्कार का प्रत्यय है, तब तात्पर्य यह होता है कि अविद्या संस्कारों के उत्पन्न होने की आधार भूमि (थिती) है। यह उनकी प्रक्रियाओं का आधार है। यह वह निमित्त है, जिससे वे कायम रहती हैं (निमित्तत्थिती)। यही उनके आयुहन (समुच्चय), उनके एक-दूसरे से संबंध, उनकी बोध्यता, उनके एक साथ प्रकट होने, उनके हेतु रूप कार्य और जिन वस्तुओं के लिए वे स्वयंभू हेतु हैं, उन क्रियाओं के लिए भी आधार हैं। इस प्रकार अविद्या सारे संस्कारों का आधार है, यह भूत व भविष्यत् दोनों में संस्कार का आधार है, यद्यपि स्वयं अन्य आधारों पर निर्भर है। जब इस कारण श्रृंखला के हेतु तत्त्व का मनन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक के पश्चात् एक वस्तु एक-दूसरे का हेतु होने से यह क्रम निरंतर चलता रहता है, परंतु जब हम प्रत्यय तत्त्व को देखते हैं, तो हमको इस कारण के स्वरूप का आधार के रूप में पूर्णतः स्पष्टीकरण हो जाता है।

अविद्या का फल जीवन-मरण चक्र में स्पष्ट रूप से देखा जाता है, जिसके साथ दुख व सुख संलग्न है, जो सुख व दुख जीवन-मरण के साथ उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। इस जीवन-मरण के चक्र से अविद्या

की स्थिति पुनः-पुनः होती है। इसके अतिरिक्त अविद्या जीवन के साथ संलग्न है, परंतु इसको उत्पन्न करने वाले अन्य भी कई तत्त्व हैं, उनमें से विशेष महत्त्वपूर्ण तत्त्व आसव या आस्रव है। आसव या आस्रव से तात्पर्य मन की विकृतियों से है, जिन्हें 'क्लेश' शब्द से भी संज्ञेय किया जाता है। इन आस्रवों को नष्ट करने से अविद्या का नाश हो जाता है। आसव शब्द से तात्पर्य सुरा से भी लिया जाता है। संस्कृत में आसव शब्द का अर्थ पुरानी शराब से है। आचार्य बुद्धघोस के अनुसार इसका अर्थ है—ये उस सुरा की तरह होते हैं, जो बहुत दीर्घकाल से बंद हो (चिरपारिवासिकट्ठेन) जितनी भी मदिराएं हैं वे बहुत समय तक तलघरों में बंद होने के कारण आसव कहलाती हैं। इसी तरह विकृतियां या क्लेश मन के अंदर गुप्त रूप से बंद रहने के कारण अधिक मादक हो जाते हैं और दुखों का कारण होती हैं। संसार में दुखों को उत्पन्न करने के कारण ये विकृतियां आसव कहलाती हैं। धम्मसंगणि में आसवों का वर्गीकरण काम आसव, भव आसव, दिट्ठि आसव एवं अविद्यासव के रूप में किया गया है। लोभ, द्वेष और मोह—ये प्रमुख क्लेश माने गए हैं। वस्तुतः अविद्या बुद्धि का भ्रांत विकल्प अथवा मिथ्या अध्यवसाय मात्र नहीं है, प्रत्युत अयथाभूत दर्शन का अनादि अभ्यास है। यह अनित्य, दुखात्मक और अनात्मभूत दर्शन का अनादि अभ्यास है। अनित्य, दुखात्मक और अनात्मभूत चेतसिक और भौतिक जगत् में अहंकार-ममकार-पूर्वक सुख की खोज में विवश लगे रहने के हमारे अभिनिवेश के मूल में एक आवरण है, जो कि चित्त की स्वाभाविक प्रभावस्वरता को ढके रहता है। यही अविद्या है और इसकी निवृत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के बिना नहीं हो सकती है।" इस प्रकार अविद्या सब क्लेशों की सामान्य संज्ञा है, रागादि क्लेशों से व्यतिरिक्त कोई अविद्या नहीं है।

(II) संस्कार—बौद्ध धर्म में संस्कार का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है। स्कंधों के विवेचन में समन्वय करने के अर्थ में संस्कार का अर्थ अभिप्रेत होता है। यह समन्वय करता है, इसलिए इसे संस्कार कहते हैं। यह रूप, संज्ञा एवं संखार और विञ्ञान को रूप, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में समन्वित करता है। यह संखार या संस्कार इसलिए कहलाता है, क्योंकि यह इन सबको मिलाकर एक कर देता है (संखतम् अभिसखरन्ति)। इस प्रकार यह एक ऐसी समन्वयकारिणी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा निश्चेष्ट रूप, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि तत्त्व मिलकर एक हो जाते हैं। बौद्ध धर्म में 52 संस्कार बताए गए हैं। साथ ही यहां यह भी बताया गया है कि संस्कार तत्त्व-समूह को समुच्चित करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के संदर्भ में 'संस्कार' से चैतसिक संकल्प अथवा छंद ही अभिप्रेत होता है। इस अर्थ में संस्कार कर्म का ही सूक्ष्म मानसिक रूप है। इस प्रकार संस्कार मनःस्थिति के अर्थ में व ऐसी क्रिया के रूप में जो विभिन्न तत्त्वों का समन्वय उत्पन्न करती है, के अर्थ में स्पष्ट होता है।

अविद्या संस्कार को हेतुभाव प्रदान करती है, जिनके बिना आवागमन नहीं हो सकता है। संस्कारों के आवागमन के प्रत्यय अर्थात संक्रमण से ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है। संस्कारों के बारे में बताया गया है कि संस्कार एक जैसे न रहने वाले, न टिकने वाले, कच्चे घड़े के जैसे टूटने के स्वभाव वाले दूसरे से उधार लिए जैसे, धूल से बनाए नगर के समान क्षणिक हैं। इन संस्कारों (बनावटी पदार्थों) का धर्म (स्वभाव) लोप होने अर्थात नष्ट होने का है। ये वर्षाकाल में किए गए लीपन-पोतन के जैसे मिट जाने वाले, बालुका वाले नदी के किनारे जैसे ढह जाने वाले, प्रत्ययों अर्थात कारण सामग्री के अधीन रहने वाले, स्वभाव से दुर्बल (भंगुर) हैं। संस्कार प्रदीप की शिखा के समान शीघ्र उत्पन्न हो-होकर निरुद्ध हो जाने वाले, वायु के समान अस्थिर, फेन के पिंडों जैसे सारहीन एवं दुर्बल है। संस्कार चेष्टाहीन, शून्य कदली कांड के समान परीक्षा करने पर निःसार, माया के जैसे चित्त को मोहित करने वाले, बच्चों की बूझ-बुझौवल में रीति मिट्टी के तुल्य हैं। सब संस्कारों में जो कुछ होता है, वह हेतु-प्रत्ययों अर्थात कारण सामग्री से होता है। यह सारी हलचल परस्पर के हेतु-प्रत्यय के कारण से है, यह बात बालजन (मूढ़जन) नहीं समझ-बूझ पाते। जैसे मूंज या बैज के प्रत्यय से (उपादान सामग्री से) श्रम के बल से रस्सी बट ली जाती है, (और उस रस्सी से) रहट चक्के के साथ घूमता है। यह घूमना एक-एक का स्वतंत्र नहीं है। ऐसे ही संस्कार हैं।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में संस्कार पदार्थ का द्योतक भी है एवं निर्माण प्रक्रिया का भी। यह तत्वों का समायोजन करता है, उनका संश्लेषण एवं अनुकूलीकरण करता है, यह कर्म और इच्छाशक्ति का भी द्योतक है। यह पुनर्जन्म का प्रवेश मार्ग है। नागार्जुन के शब्दों में—

पुनर्भवाय संस्कारानविद्या निवृतस्त्रिधा।
अभिसंस्कुरुते यांस्तैर्गतिं गच्छति कर्मभिः॥ (माध्यमक. 26/1)

पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं, वे संस्कार कहलाती हैं। राग-द्वेष, धर्म-अधर्म इत्यादि की चेतना को भी संस्कार कहा गया है। इस अर्थ में संस्कार कर्म है एवं बौद्ध धर्म में इन्हें काय संस्कार, वाक संस्कार और चित्त संस्कार के रूप में वर्णित किया जाता है। कायिक धर्म आश्वास-प्रश्वास ही काय संस्कार है, वितर्क-विचार ही वाक संस्कार है और संज्ञा और वेदना चित्त संस्कार है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का यह विभाजन है। इन कर्मों का मूल चेतना व चेतना के साथ संलग्न प्रवृत्तियां हैं। इनकी प्रभाव और फल की दृष्टि से भी व्याख्या की जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत में यह शृंखला की दूसरी कड़ी है जो विज्ञान को हेतु भाव प्रदान करती है। बिना संस्कारों के विज्ञान नहीं होता है।

(III) विज्ञान—विज्ञान संस्कारों से उत्पन्न होता है। नए अस्तित्व (उत्पत्ति) में किस योनि और किस स्वभाव को विज्ञान निश्चित करेगा, यह भी संस्कारों के द्वारा निश्चित होता है। वास्तव में सत्व का होना (मरण भव) और नए जीवन के प्रारंभ में विज्ञान का गर्भ प्रवेश करना (उपपत्तिभव) एक साथ न होते हुए भी एक के पश्चात एक के क्रम में होते हैं। यह क्रम इस प्रकार चलता है कि कभी-कभी यह कह दिया जाता है कि मृत्यु और जन्म एक साथ ही होते हैं। यदि विज्ञान नहीं उतरता, तो नामरूप प्रकट नहीं हो सकता है। नामरूप विज्ञान से ही उत्पन्न होता है। विज्ञान मां के गर्भ में स्थित होकर पांच स्कंधों की उत्पत्ति करता है, जिन्हें नामरूप कहते हैं और इन स्कंधों में छः इंद्रियों की ज्ञान चेतना का निवास होता है। विज्ञान मां के गर्भ में अंतर्बोध अथवा चेतना का बीज रूप है, जो नए शरीर के पंच तत्वों को अवस्थित करता है। यह अंतश्चेतना पूर्व कर्मों अथवा संस्कारों का फल है, जो पिछले समय में मृत्यु के समय तक पूर्ववर्ती जीवन में संकलित किए गए थे।

गर्भ में विज्ञान की स्थिति पूर्व जन्म के पिछले विज्ञान के द्वारा निश्चित होती है। एक मत के अनुसार यह उस स्वभाव का प्रतिबिंब है, जिस प्रकार गुरु से शिष्य को ज्ञान अवतरित होता है, जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश से दूसरा दीपक प्रकाशमान हो अथवा जिस प्रकार मोम या गरम चमड़ी पर मोहर का चिन्ह बनता है, जिस प्रकार सारे स्कंध जीवित तत्व के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं। उसी प्रकार मृत्यु भी एक परिवर्तन है। उत्पत्ति और नाश का क्रम प्रवाह सा से सदैव चलता रहता है। इस क्रम में कहीं अवरोध नहीं होता है। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात अविद्या और संस्कार के हेतु प्रत्यय से, पूर्व कर्म से जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वह उस मां के गर्भ में प्रवेश कर जाता है, जिससे नए स्कंध परिपक्व हो रहे होते हैं। इस प्रकार यह विज्ञान नए जीवन का नया सिद्धांत निश्चित करता है।

इस प्रकार जगत् में यह सब प्रत्ययों से होता है न कोई आत्मा और पुद्गल है और न कोई संक्रम अर्थात इस शरीर से शरीरांतर में आने-जाने वाला जीव है। कुछ विचारक बौद्ध धर्म के इस 'विज्ञान' प्रत्यय में 'आत्मा' को ढूंढते हैं एवं यह व्याख्या करते हैं कि बौद्धों का विज्ञान आत्मा ही है। परंतु बौद्ध धर्म में इस प्रत्यय में किसी प्रकार के आत्मा के स्वरूप का निदर्शन नहीं होता है। अविद्या और संस्कार प्रत्येक शून्य है एवं चेष्टा रहित है। मुद्रा से की गई छाप दिखाई पड़ती है, पर उस छाप में मुद्रा का जाना ढूंढे नहीं मिलता है। वह छाप, वह मुद्रा नहीं है और न ही किसी अन्य से वह छाप हुई है, उसी प्रकार संस्कार न तो उच्छिन्न होते हैं और न नित्य होते हैं। ये धर्म आत्महीन तथा शुभहीन हैं, फिर भी उन्हें आत्मा और शुभ सोचा जाता है। यह उल्टी तथा असत्य कल्पना है, उसी से विज्ञान उत्पन्न होता है। एक विज्ञान के निरोध से उत्पन्न दूसरे विज्ञान को

लोग उत्पत्ति और व्यतीत वस्तु के रूप में देखते हैं। पर योगी पदार्थ मात्र को कहीं न आने वाला, न जाने वाला शून्य, माया के समान देखता है।

उदाहरणार्थ—अधरारणि, उत्तरारणि तथा हाथों का उद्योग इन तीन के संयोग के प्रत्यय से अग्नि उत्पन्न होती है और उत्पन्न होकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर शीघ्र निरुद्ध हो जाती है। अनंतर कोई पंडित खोजता है कि यह अग्नि कहां से आई और कहां चली गई? दिशाओं और विदिशाओं में सब जगह खोजते हुए उस अग्नि के न आने का पता चलता है और न जाने का ही पता चलता है। ऐसे ही उपादान स्कंध, आयतन तथा धातुओं की तृष्णा, अविद्या एवं कर्म के प्रत्यय से गठित सामग्री ही तो जीव अर्थात आत्मा कह कर प्रकाशित की जाती है, पर वह परमार्थतया नहीं जाना जाता है। ऐसी किसी कूटस्थ आत्मा का संसरण जगत् में नहीं होता है। विज्ञान या चेतना का तत्त्व ऐसा घटक है, जो प्राणी की मृत्यु हो जाने पर नए प्राणी के जीवन का मूल तत्त्व बनता है। यदि इस विज्ञान या चेतना को नामरूप की उत्पाद सामग्री नहीं मिलती है, तो यह विकसित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार विज्ञान एवं नामरूप अन्योयाश्रित एवं आदिम निदान है—नए जीवन के, परंतु एक शरीर से दूसरे शरीर में आने-जाने वाली आत्मा से यह भिन्न अर्थ का बोध है। आत्मा सत् है विज्ञान असत्, अनित्य, अध्रुव, अनात्म स्वरूप। शरीर के भीतर शून्य, शरीर के बाहर शून्य, आकाश के स्वभाव समान शून्य।

(IV) नामरूप—विज्ञान से नामरूप की उत्पत्ति होती है। तथागत बुद्ध से पूर्व व समकालीन वेदोपनिषद में नामरूप की जो व्याख्या प्राप्त होती है, वह बौद्ध धर्म में आख्या प्राप्त नामरूप नहीं है। शतपथ के अनुसार जिस किसी वस्तु की संज्ञा है, वह नाम है और जो संज्ञाहीन है, वह रूप है। बौद्ध धर्म में नामरूप मनसतात्त्विक स्थिति है। यह मनुष्य की मनोभौतिक प्रकृति का उद्‌घाटन करने वाला प्रत्यय है। यह शरीर और बुद्धि (मन) के एक साथ कार्य करने की शक्ति को स्पष्ट करने वाला प्रत्यय है। उपनिषदों में यह शब्द आया है, परंतु वहां पर इसका प्रयोग निश्चित स्वरूप और नाम के अर्थ में हुआ है, जहां पर कि भौतिक स्वरूप वाले तत्त्वों की तुलना में उनके विपरीत अनिश्चित अवर्णनीय यथार्थ अथवा सत्य का उल्लेख किया जाता है।

आचार्य बुद्धघोस विसुद्धिमग्ग (विशुद्धि मार्ग) में कहते हैं कि नाम शब्द से तीन समुच्चयों का बोध होता है, जो इस प्रकार है—संवेदना, प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान और पूर्ववृत्ति अथवा अभिवृत्ति रूप। रूप शब्द से चार तत्त्व और चार भूत (पृथ्वी, अप, तेज, वायु) उत्पन्न समझे जाते हैं। यह बताया गया है कि नाम द्वारा भौतिक परिवर्तन नहीं हो सकते हैं। जैसे खाना, पीना अथवा अन्य क्रियाएं। इसी प्रकार रूप अपने आपसे कोई इस प्रकार से परिवर्तन नहीं कर सकता। लेकिन ये दोनों लंगड़े व अंधे मनुष्य की भांति एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों मिलकर परिवर्तन करने में समर्थ होते हैं। परंतु नाम और रूप की उत्पत्ति के लिए किसी प्रकार की वस्तुओं के संग्रह को मानने की आवश्यकता नहीं है। "ठीक उसी तरह जिस प्रकार बांसुरी बजाते समय जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसके लिए किसी वस्तु भंडार की आवश्कता नहीं होती, न कहीं ध्वनि का कोई भंडार होता है, जहां से ये स्वर आते हैं। जब वीणावादन बंद हो जाता है, तब भी कोई ऐसा स्थान नहीं होता, जहां पर ध्वनि लौट जाती है। इसी प्रकार वे सारे तत्त्व जो रूप और नाम के तौर पर स्थित होते हैं, वे यद्यपि पहले नहीं होते हैं (उनकी कोई पूर्व स्थिति नहीं है) फिर भी वे अस्तित्व ग्रहण करते हैं और अस्तित्व ग्रहण करने के पश्चात पुनः विलुप्त हो जाते हैं।"[1]

अभिधम्म कोश के अनुसार प्रतिसंधि चित्त के पश्चात और चार रूपी इंद्रियों की उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था 'नामरूप' (प्राक्षडायतनोत्पादात) है। मन आयतन और काय आयतन की उत्पत्ति उपपति भव में ही, अर्थात प्रतिसंधि क्षण में होती है। इस प्रकार नामरूप कुक्षि के पंच स्कंध हैं। यह उपपत्ति भव से लेकर जब तक षडिंद्रिय की अभिव्यक्ति नहीं होती है, तब तक की अवस्था है। इस अंतराल में षडायतन के पूर्ण होने के पूर्व पांच अवस्थाएं हैं—कलल, अर्बुद, पेशिन, घन और प्रशाखा—इनका समुदाय नामरूप की दशा है। पंच स्कंधों में नाम से वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान

---

1. विशुद्धि मग्ग, 17वां अध्याय

तथा रूप स्कंध की उत्पत्ति होती है। मिलिंद प्रश्न के अनुसार भी स्थूल और सूक्ष्म मानसिक धम्म क्रमशः रूप और नाम हैं, जो इस अवस्था में उत्पन्न होते हैं, अतः द्वादशः निदान में या प्रतीत्यसमुत्पाद में इस अंग को नामरूप से जाना जाता है। रूप पदार्थों का एवं नाम बुद्धि, मन या मनस—चैतसिक तत्त्वों का नाम है। चेतना या विज्ञान को नामरूप पर अवस्थित माना जाता है। चेतना के पश्चात एक रूप से दूसरे रूप की स्थिति का क्रम निरंतर चलते रहने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये आपस में संबंधित हैं। जब पंच स्कंधों के समूह एकत्रित हो जाते हैं, तब यह चेतना लुप्त हो जाती है। परंतु चार स्कंधों के समूह में नाम के ऊपर अवस्थित रहती है और इसलिए कहा जाता है कि ये नामरूप पर अवस्थित है।

(V) षडायतन—नामरूप से ही षडायतन की उत्पत्ति होती है। जब चार रूपेंद्रियों की उत्पत्ति होती है, तब षडायतन परिपूर्ण होते हैं। षडायतन त्रिक्सन्निपात या स्पर्श के पूर्व है। यह इंद्रियों के प्रादुर्भाव काल से इंद्रिय, विषय और विज्ञान के सन्निपात काल तक पंच स्कंध है। षडायतन में पांच ज्ञानेंद्रियों के साथ आयतन भी शामिल है। षडायतन से स्पर्श की उत्पत्ति होती है। तृष्णा इंद्रियसंन्निकर्ष या इंद्रिय-जन्य अनुभूति पर निर्भर करती है। आयतन से अभिप्राय आय द्वार या उत्पत्ति द्वार है। ये चित्त-चैत के आय को फैलाते हैं। मन और पांच इंद्रियों वाला शरीर षडायतन कहलाता है, इसमें मन आयतन के अतिरिक्त पांच इंद्रियों को पांच न कहकर **चक्षु आयतन, श्रोत आयतन, घ्राण आयतन, रसना आयतन** और शेष स्थूल शरीर को या स्थूल तत्त्व को **काय आयतन** के रूप में निर्देशित किया गया है।

आयतन शब्द का बौद्ध धर्म में विशिष्ट तकनिकी अभिप्राय है। ज्ञान क्षेत्र से संबंधित दो तथ्यों को इसमें निरूपित कर वर्गीकृत किया गया है, वह है—(I) हम वस्तु को कैसे जानते हैं और (II) किस आधार पर हम अपने ज्ञान या जानकारी को उपयुक्त बनाते हैं। इसे संज्ञानात्मक शक्ति और तत्संबंधी विषयी तत्त्व से संज्ञात किया जाता है। आयतन शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर प्रारंभिक उपनिषदों में भी आया है, परंतु उपनिषदों में आयतन का अर्थ है—'क्षेत्र' अथवा 'स्थान' अर्थात उपनिषदों में इसका अर्थ 'क्षेत्र' या 'स्थान' के रूप में किया गया है। किसी भी उपनिषद में 'षडायतन' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। बौद्ध धर्म में 'षडायतन' शब्द अपने विशिष्ट अर्थ के रूप में प्रयुक्त हुआ है एवं प्रतीत्यसमुत्पाद के 5वें अंग के रूप में सभी निकायों में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है।

(VI) स्पर्श—स्पर्श का साधारण अर्थ इंद्रिय अथवा मन का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष है। जो धर्म आलंबन का स्पर्श करता है, उसे स्पर्श कहते है अथवा जिसके द्वारा संप्रयुक्त चित्त चैतसिक आलंबन स्पर्श करते हैं, वह स्पर्श है। यह सुख-दुखादि वेदना ज्ञान की शक्ति उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था (स्पर्शः प्राक् सुखादुःखादिकारणज्ञान शक्तितः) है। जिस प्रकार एक बालक जब तक सुख-दुखादि के कारण को परिछिन्न (ज्ञात) करने में समर्थ नहीं होता 'यथा यह सुख का कारण है.....आदि' तब तक की अवस्था स्पर्श कहलाती है। वेदना उससे उत्पन्न होने वाला सुख-दुख का अनुभव है।

आचार्य बुद्धघोस अत्थसालिनी में स्पष्ट करते हैं कि चित्त पहले वस्तु विशेष के संपर्क (फस्स अथवा स्पर्श) में आता है। (पालि भाषा में स्पर्श के लिए 'फस्स' शब्द का प्रयोग होता है) फिर (आरंमण) वेदना, प्रत्यय (संज्ञा) और चेतना की उत्पत्ति होती है। यह संपर्क एक विशाल भवन के स्तंभों की तरह से है और शेष इन खंभों पर बने हुए ढांचे के समान है। (दब्ब-संभार सदिसा) परंतु इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि स्पर्श मानसिक प्रक्रिया का आरंभ है, क्योंकि एक संपूर्ण बोध चेतना (एकचित्तस्मिम्) की क्रिया में यह नहीं कहा जा सकता है कि यह वस्तु पहले आती है या पीछे। इस प्रकार हम स्पर्श और वेदना को संकल्पना और चेतना को एक ही क्रिया का अंग मान सकते हैं। यह स्वयं में एक ऐसी स्थिति है, जिसका विशेष महत्त्व अथवा अस्तित्व नहीं है, परंतु क्योंकि इसके द्वारा वस्तुओं का भान होता है, इसलिए इसको फस्स (स्पर्श) कहते हैं।

"स्पर्श से किसी वस्तु का भौतिक स्पर्श ही अभिप्रेत नहीं है, इसके द्वारा वस्तु का और मानसिक चेतना (चित्त) का संघात (संपर्क) होता है, जिससे संभव होता है—देखना, कानों की ध्वनि सुनना आदि। यहां ध्वनि का संघात श्रवण शक्ति पर होता है। इस प्रकार स्पर्श का विशिष्ट गुण वस्तुओं के साथ संपर्क में आना है अथवा वस्तु संघात स्पर्श

का कार्य है। इस संघात अथवा संपर्क से बाह्य वस्तु का मानसिक स्वरूप में परिवर्तन होता है। अर्थात बुद्धि या चेतना स्पर्श के कारण ही बाह्य सामग्री के रूप को ग्रहण करती है।'' यह संपर्क पंचेंद्रियों द्वारा होता है, जिसको बुद्धि के पांच द्वारों के रूप में माना गया है। पंचद्वारीय संपर्क की विशेषता स्पर्श है और जिसकी क्रिया संघात है, परंतु बुद्धि के द्वार खोलने की प्रक्रिया स्पर्श से होती है न कि संघात से। इसे उदाहरण देते हुए समझाया गया है कि जैसे यदि दो भेड़ों में लड़ाई हो और उनमें एक नेत्र हो और दूसरा वह वस्तु जिसको नेत्र देखता है, तो उनका भिड़ना संपर्क (फस्स) या स्पर्श होगा। यदि दो वस्तु एक दूसरे से टकराएं अथवा दो हाथ ताली बजाते हुए एक-दूसरे से मिलें, तो एक हाथ नेत्र का रूप होगा और दूसरा हाथ वस्तु का, जो देखी जाती है। इन दोनों का टकराना स्पर्श का प्रतिनिधित्व करेगा। इस प्रकार स्पर्श का गुण छूना है और उसकी क्रिया संघात है। *(अत्थसालिनी)*

इसी प्रकार की उपमाएं देकर स्पर्श को 'मिलिंद प्रश्न' में भी समझाया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि स्पर्श तीन वस्तुओं का मिलन है—वस्तु, चित्त और इंद्रिय ज्ञान और उसका फल वेदना और अनुभूति है।

(VII) वेदना—स्पर्श से उत्पन्न होने वाला सुख-दुख का अनुभव वेदना है। वेदना को अभिधर्म कोश में 'विति' कहा गया है। (वितिः प्राक मैथुनात्) है। जो धर्म आलंबन के रस का वेदन (अनुभव) करता है, वह वेदना है। वेदयति (अनुभूति) इसका लक्षण है। यथाः कामाप्त सत्व की मैथुन से पूर्व की अवस्था और जब तक मैथुन राग का समुदाचार नहीं होता है, तब तक की अवस्था वेदना है। इस अवस्था को वेदना कहते हैं, क्योंकि वहां वेदना के कारणों का प्रतिसंवेदन होता है। अतः यह वेदना प्रकर्षिणी अवस्था है। यह स्पर्श के प्रत्यय से उत्पन्न होती है। जब छः स्पर्श उत्पन्न होते हैं, तब वेदनाएं भी उनके साथ युगपत उत्पन्न होती हैं।

यद्यपि वेदना वस्तु के द्वारा प्रारंभ होती है, लेकिन इसका प्रभाव चित्त पर होता है और इसका मुख्य अंग अनुभव है, जिसके द्वारा वस्तु के रंग, रूप और रसादि का ज्ञान होता है। जहां तक वस्तु के रसास्वादन का संबंध है। वहां अन्य वृत्तियां अत्यंत सूक्ष्म रूप से ही रसास्वादन करती हैं। संपर्क की क्रिया केवल छूने से ही समाप्त हो जाती है। देखने की क्रिया केवल वस्तु विशेष को पहचानने में अथवा देखने में समाप्त हो जाती है। चेतना केवल समन्वय करती है और बोध चेतना केवल बोध कराती है, परंतु वेदना (अनुभूति) अपनी क्षमता, दक्षता और शक्ति से वस्तु विशेष के पूर्ण रस के आनंद को प्राप्त करती है।

वेदना राजा के समान है और सब प्रवृत्तियां रसोईयों के समान हैं। जिस प्रकार एक रसोइया अनेक रसों वाले स्वादिष्ट भोजन तैयार करता है और उसे एक टोकरी में रखकर-बंद करके राजा के पास ले जाता है, फिर उस टोकरी का ढक्कन खोलकर उसमें से सर्वोत्तम शाकादि वस्तुओं को थाल में सजाता है, फिर उन वस्तुओं में से वह देखने के लिए एक पात्र में लेकर चखता है कि उनमें कोई दोष तो नहीं है और तत्पश्चात विभिन्न स्वादिष्ट रसों से युक्त भोजन राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। राजा स्वामी होने के कारण और साथ ही तेजस्वी और दक्ष होने के कारण इच्छानुसार उन वस्तुओं में से जो कुछ पसंद करता है। अथवा जिस वस्तु की उसे इच्छा होती है, उसको ग्रहण करता है और रसास्वादन करता है, इसी प्रकार रसोइयों के द्वारा भोजन चखने की क्रिया के संबंध में यह कहा जा सकता है कि अन्य प्रवृत्तियों के द्वारा थोड़ा रसास्वाद खंड के रूप में इन वस्तुओं का किया जाता है, जैसे रसोइया भोजन के थोड़े से हिस्से को चखता है, इसी प्रकार अन्य प्रवृत्तियां वस्तु विशेष के केवल थोड़े से रस से स्वाद ग्रहण करती हैं। जिस प्रकार महाराजा सर्वाधिकारी महामहिम स्वामी एवं रस-ज्ञान में दक्ष होने के कारण इच्छानुसार वस्तुओं को ग्रहण करता है, उसी प्रकार वेदना (अनुभूति) सब प्रवृत्तियों की स्वामी होने के कारण (दक्ष होने के कारण) वस्तुओं का पूर्णरूपेण रसास्वाद करती है। अतः यह कहा जाता है कि रसास्वाद और अनुभूति वेदना की क्रिया है।

वेदना को द्विविध, त्रिविध प्रकार का कहा गया है। अनेक प्रकार से वेदना का विभाजन और वर्गीकरण बौद्ध धर्म में पाया जाता है। वस्तुओं या उनके विचार के संपर्क में आने पर जो सुख, दुख या न सुख-दुख के रूप में जो अनुभव करते हैं, वही वेदना है। वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है।

(VIII) तृष्णा—बौद्ध धर्म में तृष्णा या 'तण्हा' शब्द भी एक निश्चित पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्द है। इससे

आसक्ति या उपादान उत्पन्न होता है। 'उपादान' और तण्हा (तृष्णा) शब्द भी प्रारंभिक उपनिषदों में नहीं पाए जाते हैं, लेकिन इनमें वह भाव है, जो संस्कृत के शब्द क्रतुं व काम में पाया जाता है। अतः कई व्याख्याकार तृष्णा की अर्थोपमा कामना से लगा देते हैं। तृष्णा इंद्रिय सन्निकर्ष या इंद्रिय-जन्य अनुभूति पर निर्भर करने वाले पुद्गल की अवस्था को तृष्णा (तृष्णा भोग मैथुन-रागिणः) कहा है। इसे जीवन धारण करने के मूल में भी माना गया है। इससे भव की शृंखला प्रवाहित होती रहती है। यह जीवन और दुख का प्रबल कारण है। हममें जन्म धारण करने की प्रबल तृष्णा थी, इसलिए हमने यह जीवन धारण किया है।

धम्मपद में उल्लिखित है—'जिसे तृष्णा ने आक्रांत करके अपनी अधीनता में कर रखा है, उस तृष्णा ने, उस घृणित वस्तु ने, जो संसार के अंदर अपना विष-वमन करती है—उसका दुख बढ़ता ही जाएगा, जैसे घास शीघ्रता से बढ़ती जाती है, किंतु जो इस तृष्णा को अपने वश में रखता है, दुख उससे दूर भाग जाता है, जैसे कि कमल के पुष्पों से पानी, उन्हें लिप्त किए बिना झर जाता है।' और जिस प्रकार यदि जड़ की हानि नहीं हुई है, अर्थात जड़ बची हुई है, तो वृक्ष काटे जाने के बावजूद फिर भी नए सिरे से विशाल रूप से बढ़ सकता है, इसी प्रकार यदि तृष्णा की उत्तेजना पूर्ण रूप से मरी नहीं है, तो दुख सदा ही नए सिरे से फूट पड़ेगा।'

आचार्य बुद्धघोस के अनुसार अविद्या अथवा तृष्णा को मूल मानकर ही तथागत ने संसार की उत्पत्ति बताई है। दोनों ही अनादि हैं एवं परतंत्र हैं। तृष्णा केवल इच्छा या छंद ही नहीं है, अपितु इसमें समस्त इच्छाएं और ऐषणाएं संगृहीत हैं। यह अतृप्ति (Unsatisfactriness) का प्रत्यय है। वेदना और तृष्णा का युग्म है। तृष्णा को 'जड़' या मूल कहा गया है, यह भव का मूल है, कर्मों का मूल है। मूल के नष्ट हो जाने पर कर्म भविष्य में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। तृष्णा के अभाव में कर्म स्वयं फलीभूत नहीं हो सकता है।

महासतीपट्ठानसुत्त में कहा है—भोग व विलास की तृष्णा के कारण मनुष्य यहां वहां विषयों की ओर दौड़ता है और इनके सुख प्राप्त करने की प्रबल तृष्णा के कारण पुनर्जन्म के बंधन में फंसता है। यह तृष्णा कई प्रकार की है—विषय भोग की तृष्णा, पुनर्जन्म की तृष्णा, पुनर्जन्म नहीं लेने की कामना आदि ये सभी तृष्णाएं मनुष्य को सताती हैं। जो वस्तुएं इंद्रियों को प्रिय लगती हैं, प्राणों को मधुर लगती हैं—रस, रूप, रंग, स्वाद, उनकी आसक्ति चित्त को चंचल करती है। तृष्णा इस आसक्ति से उत्पन्न होती है और इस आसक्ति और वासना (चिपकाव) में निवास करती है। इस चिपकाव या आसक्ति के कारण ही उत्पत्ति होती है। दुख से निवृत्ति तभी हो सकती है, जबकि व्यक्ति इस तृष्णा से मुक्त हो जाए।

तृष्णा के बारे में ललितविस्तर में उत्ती है—'यत्किंचि वेदयतु स तृष्णा उक्ता, तृष्णात् सर्व उपजायति दुख स्कंध।'[1] अर्थात जो कुछ वेदयित (=वेदना या अनुभव) है, वह सब तृष्णा कही जाती है अर्थात सब प्रकार की तृष्णा के मूल में वेदना रहती है। तृष्णा से सब दुख स्कंध उत्पन्न होता है। यह कर्म का मूल है। अभिधर्मकोश में कहा गया है कि अविद्यायुक्त स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है, तृष्णा को पौनर्भविकी, नंदीराग-सहगता तथा तत्राभिनंदिनी कहा गया है और उसके तीन प्रकार बताए गए हैं—काम-तृष्णा, भव-तृष्णा व विभव-तृष्णा। तृष्णा मूलतः सुख की खोज और उसमें आसक्ति है। तृष्णा में बंधे होने के कारण मनुष्य संसार के पार नहीं जा पाता है। अविद्या और तृष्णा की सहकारिता से दुख उत्पन्न होता है।

तृष्णा और छंद का संबंध भी बौद्ध धर्म में विवेचित किया गया है एवं बताया गया है कि तृष्णा केवल इच्छा नहीं है। छंद शब्द अपने व्यापक अर्थ में समस्त संकल्प और एषणाओं को समाहित करता है। पालि संदर्भों में तृष्णा को राग, छंद, प्रेम, पिपासा और परिदाह के साथ समानार्थक माना है। महातण्हा-संख्य-सुत्तन्त, मज्झिम निकाय में तथागत ने तृष्णा की कथा कहते हुए उपदिष्ट किया है, ''भिक्खुओ ! साति केवट्टपुत्त भिक्खु को ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी—मैं भगवान के उपदिष्ट धर्म को इस प्रकार जानता हूं कि दूसरा नहीं, बल्कि वही (एक) **विज्ञान** (=जीव) संसरण-संधावन (=आवागमन) करता रहता है।''

1. ल.वि., पृष्ठ 787

बुद्ध ने यह बात सुनी तो बुलाकर पूछा—'क्या सचमुच साति ! तुझे इस प्रकार की बुरी धारणा हुई है ?'

'हां,...... दूसरा नहीं, वही, विज्ञान (=जीव) संसरण-संधावन करता है।'

'साति ! वह **विज्ञान** क्या है ?'

'यह जो, भंते ! वक्ता अनुभव करता है, जो कि वहां-वहां (जन्म लेकर) अच्छे-बुरे कर्मों के फल को अनुभव करता है।'

'निकम्मे (मोघ पुरुष) ! तूने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते सुना ? मैंने तो मोघ पुरुष ! **विज्ञान** (=जीव) को अनेक प्रकार से **प्रतीत्य-समुत्पन्न** कहा है—**प्रत्यय** (=विगत) होने के बिना **विज्ञान** का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (बतलाया है)। मोघ पुरुष ! तू अपनी ठीक से न समझी बात का हमारे ऊपर लांछन लगाता है।''......''

तथागत ने उपदिष्ट किया कि तृष्णाएं स्वयं ही अनुशासनहीन, निषेधात्मक चित्तावस्था का परिमाप होती हैं, लेकिन चित्त की अनुशासनहीन स्थिति स्वयं भी हेतुओं और अवस्थाओं पर आधारित होती है। सभी जीवन तृष्णा रूपी जटा से विजटित हैं, तृष्णा के जाल में उलझे हैं। जिस प्रकार वेणुवृक्ष गुल्मादिलता से भीतर बाहर सब ओर आच्छादित और विनद्ध होता है, उसी प्रकार सब जीव तृष्णा से आच्छादित होते हैं। तृष्णा रूपादि आलंबनवश बार-बार उत्पन्न होती है, जिसे हम रूप तृष्णा, शब्द तृष्णा, गंध तृष्णा, रस तृष्णा, स्पृष्टव्य तृष्णा और धर्म तृष्णा के रूप में जान सकते हैं। जीवन चक्र में यह यौवन की अवस्था है। उपादान तृष्णा पर निर्भर है, यह उपादान का हेतु है। यदि तृष्णा नहीं तो उपादान नहीं।

(IX) उपादान—तृष्णा से उपादान की उत्पत्ति होती है। अस्तित्व का आधार उपादान है। अर्थात उपादान भव को जन्म देता है। उपादान उग्र तृष्णा का वह रूप है, जिससे मोह उत्पन्न होता है। यह सास्रव धर्मों को उत्पन्न करती है, यह उनका आधार है। पंच स्कंधों को उपादान स्कंधों के रूप में इसी अर्थ में संज्ञेय किया जाता है। यह उस पुद्गल की अवस्था है, जो भोगों की पर्येष्टि में दौड़ता-घूमता (उपादानं तु भोगानाम् प्राप्तये परिधावातः) है। वह भोगों की प्राप्ति के लिए सब ओर से प्रधावित होता है। इस अवस्था को उपादान कहते हैं। यह तृष्णा के विषय का अभिनिवेशपूर्वक ग्रहण और आसक्ति है। इसमें चतुर्विध क्लेश का समुदाचार होता है या यों कहें कि तृष्णा की ज्वाला उपादान रूपी ईंधन से चिपटी रहती है अर्थात तृष्णा से उपादान उत्पन्न होता है। इस प्रकार संबंध आलंबन में दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने वाले धर्मों को उपादान कहा जाता है। इसके भी चार प्रकार बताए गए हैं, वे हैं—कामोपादान, दृष्टि उपादान, शीलव्रतोपादान और आत्मवादोपादान।

इस प्रकार प्रधावित होकर (क्लेश समुदाचार से) व्यक्ति जो कर्म करता है, उनका फल अनागत-भव है। इस कर्म को भव कहते हैं। क्योंकि इसके कारण भव होता है (भवत्यनेन) अतः यह भव का हेतु है। भोगों की पर्येष्टि में कृत और उपचित कर्म पौनर्भविक है। इस प्रकार दुख उपादान स्कंध है। अनुशयों को उपादान कहा जाता है। क्योंकि अनुशयों के बिना कर्म पुनर्भव के अभिनिर्वतन या कर्मभव के मूल अनुशय है। क्लेशों के समुदाचार के पूर्व इनका प्रचार दुर्विज्ञेय है। अनुशय उपग्रहण करते हैं, अतः इन्हें उपादान कहते हैं। उपादान के हेतु से ही भव होता है।

(X) भव—बौद्ध धर्म पुनर्जन्म में विश्वास करता है एवं यह स्थापना करता है कि यह संसार अनादि प्रवाह है। जन्म या जाति किस पर निर्भर करती है ? इसकी व्याख्या में बौद्ध धर्म ने भारतीय साहित्य को एक नया शब्द दिया, जिसे **'भव'** के नाम से उद्बोधित किया गया। यह 'भव' है। जाति का हेतु है। जीवन के अस्तित्व की अनगिनत श्रृंखला को बौद्ध धर्म में **'भव चक्र'** कहा जाता है। यह पुनर्जन्म के सिद्धांत की व्याख्या करता है। अर्थात बौद्ध धर्म में व्याख्या प्राप्त पुनर्जन्म 'भव' के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

''वैदिक काल के मनुष्य शरीर का दाह संस्कार देखते थे, उनके मन में यह धारणा रहती थी कि मनुष्य की दृष्टि सूर्य में विलीन हो जाती है। उसके श्वास, वायु में विलीन हो जाते है, उसकी वाणी अग्नि में समा जाती है एवं उनके विभिन्न अवयव विश्व के विभिन्न अवयवों में मिल जाते हैं। उनका यही विश्वास था कि पुण्य कर्मों का एवं अशुभी

1. बौद्ध दर्शन, राहुलसांकृत्यायन, पृष्ठ 32-33

कर्मों का फल दूसरे लोक में प्राप्त होता है और यद्यपि ऐसे अनेक स्थल आते हैं, जहां मनुष्य की आत्मा के वृक्षादि में प्रवेश का वर्णन है, परंतु पुनर्जन्म अथवा आत्मा का दूसरे शरीर में प्रवेश करने का प्रचलन इस समय नहीं हुआ था।"[1] उपनिषदों में पितृयान मार्ग और देवयान मार्ग का जिक्र आता है। वृहदारण्यक में ऐसा लिखा है कि जैसे घास की पत्तियों पर चलती एक इल्ली एक पत्ती से दूसरी पत्ती पर चली जाती है, इसी प्रकार आत्मा एक शरीर के अंत तक पहुंच कर दूसरे शरीर में चली जाती है। इस प्रकार पूर्व जन्म की कल्पना का कुछ संकेत हमें इनमें मिलता है, परंतु जैसा भगवान बुद्ध ने 'भव' के माध्यम से व आत्मा रहित पुनर्जन्म की व्याख्या की है, वैसा किसी भी भारतीय दर्शन के ग्रंथ में नहीं है। एस.एन. दास गुप्त के शब्दों में—"जहां तक मैं समझता हूं बुद्ध के पहले अथवा उनके पश्चात पुनर्जन्म के सिद्धांत को सिद्ध करने का अथवा इसका खंडन करने का कभी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया।"[2]

उपनिषदों के जिस शब्द को लेकर हिंदू दर्शन के व्याख्याकार यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि पुनर्जन्म का सिद्धांत उपनिषदों से निकला है, उस शब्द पर यहां पर प्रकाश डालना समीचीन है। वृहदारण्यक चतुर्थ खंड, चतुर्थ अध्याय के 5वें श्लोक में कहा है—**'यत् कर्म कुर्यात् तत्अभिसम्पद्यते।'** इसका अभिप्राय यह निकाला जाता है कि मनुष्य जिस प्रकार कर्म करेगा, उसी प्रकार उसका जन्म होगा। परंतु यह जन्म फिर किसी सिद्धांत पर आधारित नहीं है। बौद्ध धर्म में उसके लिए प्रथम बार 'भव' शब्द का प्रयोग किया। यह स्पष्ट है कि "भव शब्द प्रारंभिक उपनिषदों में नहीं पाया जाता है और दर्शन शास्त्रीय शब्द के रूप में केवल पालि भाषा के शास्त्रों में इसका प्रयोग हुआ है।[3] जाति, शरीर धारण करने को कहते हैं अथवा पंचस्कंधों से सम्मिलित प्रभाव को जाति नाम से पुकारते हैं। जाति का निश्चय 'भव' से होता है। 'भव' को उन कर्मों के अर्थ में समझ सकते हैं, जिनके द्वारा पुनर्जन्म होता है। पूर्व जन्म की अविद्या और संस्कार के द्वारा विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव की इस जन्म में उत्पत्ति होती है। जिससे आगामी जन्म का निर्धारण होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का यह दसवां भवांग या भव दूसरे जन्म के लिए जाति और जरा-मरण निर्धारित करता है अर्थात जाति का आधार हेतु होता है।

'भव' से संसरण एवं लोक दोनों के अर्थ सूचित होते हैं। भव को द्विविध काम-भव और व्युत्पत्ति भव भी कहा जाता है एवं तीन भागों में वर्गीकरण करने पर इसे काम भव, रूप भव और अरूप भव कहा जाता है। इस प्रत्युत्पन्न भव में किए गए कुशल, अकुशल कर्म से अनागत भव में उत्पद्यमान फलविपाक उपपत्ति भव कहा जाता है। जो चार उपादान बताए गए हैं, उनके प्रत्यय से भव पैदा होता है। भोगों की पर्येष्टि में किए गए (कृत) और उपचित कर्म पौनर्भविक हैं और जिस अवस्था में पुद्गल कर्म करता है, वह भव है।

सास्रव संस्कृत धर्म 'भव' कहे जाते हैं। कर्म भव है, क्योंकि यह भव का कारण है। सब कर्म जो भवगामी हैं, कर्म भव हैं। पुण्य, अपुण्य, आनेज्य-कर्म अल्प हो या बहु कर्मभव है। संक्षेप में कर्म चेतना और चेतना संप्रयुक्त अभिध्यादि कर्म संख्यात-धर्म है। उपपत्ति-भव कर्माभिनिवृत्त स्कंध है, यह नौ प्रकार का बताया गया है—काम भव, रूप भव, अरूप भव, संज्ञा भव, असंज्ञा भव, नैवसंज्ञा भव, एक व्यवकार भव, चतुव्यकार भव, पंच व्यकार भव। जिस भव में संज्ञा होती है, वह संज्ञा भव है, इसका विपर्यय असंज्ञा भव है। औदारिक संज्ञा के अभाव से और सद्भाव से नैवसंज्ञा भव है। जिस भव का व्यवकार है, वह एक व्यवकार भव है। एक में एक उपादान स्कंध है। भव की इस प्रकार की व्याख्या हमें विशुद्धिमार्ग में मिलती है।

तथागत के दर्शन में 'भव' का इस प्रकार निरूपण आत्मा आदि के संसरण को प्रश्रय नहीं देता है। यह शाश्वत दृष्टि (विदोपनिषद दृष्टि) और उच्छेद दृष्टि (चार्वाक दृष्टि) दोनों का परिहार है। भव निरोध के लिए देशना होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद का मनन होता है। उपनिषदों के ध्रुव आत्मा के स्थान पर बौद्ध धर्म में अनात्म, अध्रुव भव है। बौद्ध दर्शन में पुनर्जन्म को स्वीकार किया जाता है, परंतु वह भव के कर्मों के अनुसार है। बौद्ध धर्म के अनुसार आत्मा नित्य पदार्थ नहीं है। वैदिक सिद्धांत के अनुसार आत्मा नित्य है और उसका पुनर्जन्म होता है। बौद्ध धर्म

1. एस.एन. दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास I, पृष्ठ 53-54
2. वही, पृष्ठ 86
3. वही, पृष्ठ 87

में ऐसी किसी भी नित्य आत्मा के अभाव में भी पुनर्जन्म होता है और उसे दीपशिखा के उदाहरण से समझाया जाता है। दीपक की शिखा प्रतिक्षण बदलने पर भी एक समान दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का प्रवाह प्रत्येक क्षण में परिवर्तनशील होने पर भी एक समान दिखाई पड़ता है। इसमें इल्ली जैसा कोई सत्त्व नहीं है, जो एक पत्ती से दूसरी पत्ती अर्थात एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है। यह बिना आत्मा व ईश्वर के मनुष्य की मुक्ति की बात करता है।

परम पावन दलाई लामा ने उपदिष्ट करते हुए कहा है, ''बौद्ध लोग किसी एक सृष्टिकर्त्ता की विद्यमानता स्वीकार नहीं करते। वे स्वसृष्टि अपनाना ठीक मानते हैं। अंततः सृष्टिकर्त्ता व्यक्ति नहीं होता, तब तक प्रतिकूल परिणाम ही सामने आएंगे, जो वांछित परिणाम नहीं होंगे। यदि व्यक्ति का चित्त संस्कारित होगा, जाग्रत होगा, तो सभी प्रतिकूल फल नाश को प्राप्त होंगे और अनुकूल परिणाम प्रकट होंगे। ......बौद्ध धर्म एक मानव धर्म है, उसे परमात्मा से कोई लेना-देना नहीं। बौद्ध धर्म मुख्यतः यह बताता है कि व्यक्ति को कैसा व्यवहार करना चाहिए और अपने चित्त को किस प्रकार अच्छा प्रशिक्षण दिया जाए।''[1]

पुनर्जन्म का कारण चित्त की संतति ही है। बौद्धेतर धर्म ग्रंथों में आत्मा अजर-अमर है और न कभी परिवर्तित होती है और न नष्ट होती है। शरीर के स्थूलाकार से पृथक उसका अस्तित्व होता है। बौद्ध विचारधारा के अनुसार ऐसी आत्मा की कोई सत्ता नहीं है, जो एक भव से दूसरी भव में संक्रमित होती हो। बौद्ध विचारधारा में सभी कुछ अनात्म है। पंचस्कंधों की प्रज्ञप्ति को ही अगर लोग आत्मा कह देते हैं, तो वह भी संसरण के योग्य नहीं है। इस प्रकार भव के प्रत्यय के अलावा अन्य सिद्ध नहीं होता है। भव के प्रत्यय से ही जाति होती है। अर्थात जन्म या पुनर्जन्म होता है। ललितविस्तर में कहा गया है—

''स्कन्धायतनानि धावतः तृष्ण अविध इति कर्म प्रत्ययाः।
सामग्रि तु सत्त्वसूचना स च परमार्थतु नोपलभ्यते।। 494।।''

अर्थात (उपादान) स्कंध, आयतन तथा धातुओं की तृष्णा, अविद्या एवं कर्म के प्रत्यय से गठित सामग्री ही तो सत्त्व (=जीव अर्थात आत्मा) कहकर प्रकाशित की जाती है, पर वह परमार्थतया नहीं जाना जाता है। पुनः कहा गया है—

''स्कन्धायतनानि धातवः शून्य अध्यात्मिक शून्य ब्राह्यकाः।
सत्त्वात्मविविक्तमनालया धर्माकाशसवभावलक्षणाः।। 501।।''

अर्थात स्कंध आयतन, धातु, शरीर के भीतर भी शून्य है एवं शरीर के बाहर भी शून्य है, वे जीव से, आत्मा से विविक्त है, वे आलय अर्थात स्थान रहित है। वे धर्म लक्षण वाले हैं, वे आकाश के स्वभाव वाले हैं। अर्थात यह हेतु-प्रत्यय का प्रवाह मात्र है। भव के अंग से ही जन्म होता है।

भव चक्र से निकल पाने में नित्य मूढ़ जगत् घड़े में बंद भंवरे के समान भरम रहा है। तीनों भव शरद ऋतु के मेघों के समान न टिकने वाले हैं। जगत् में भीड़ का जुटना और बिखरना नटों के तमाशे (जमावड़े) के समान है। जगत् में वायु पहाड़ी नदी के समान शीघ्र-शीघ्र वेग वाली, आकाश में बिजली के समान (क्षण भर की) है। धरती पर, देवताओं के लोक में, दुर्गति के तीनों लोकों (तिर्यक-प्रेत-नरक रूपी) मार्गों में एवं इन पांच गतियों में अज्ञानी, भव तृष्णा तथा अविद्या के वश में पड़ी हुई जनता कुम्हार के चाक के समान चक्कर लगाती पलथे खा रही है।

(XI) जाति—भव के प्रत्यय से इस व्यवहारिक प्राणी की जाति (उत्पत्ति) होती है—'भव प्रत्यया च समुदेति ही जातिरस्य।' जाति या जन्म (उत्पत्ति) के प्रत्यय के कारण जरा, व्याधि, दुख, आदि अर्थात इस भव पञ्जर में नाना प्रकार की योनियों की उपपत्ति होनी है। इस प्रकार, जगत् का यह सब प्रघटन प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) होता है, वस्तुतः न कोई आत्मा और पुद्गल (=पुरुष) है और न कोई संक्रमक अर्थात इस शरीर से शरीरांतर में आने-जाने वाली आत्मा नहीं है। यह जाति भवांगों की प्रतिसंधि है। जाति का निश्चय 'भव' से होता है। जाति शरीर धारण करने को कहते हैं। मरण के अनंतर प्रतिसंधि काल के पांच स्कंध जाति हैं। प्रत्युत्पन्न भव की समीक्षा में जिस अंग को विज्ञान का नाम देते हैं, उसे अनागत भव की समीक्षा में 'जाति' की संज्ञा मिलती है।

---

1. दैनिक जीवन में ध्यान-साधना का विकास, पृष्ठ 94

मृत्यु में अन्य तत्त्व यथा, भावनाएं एवं प्रत्यक्ष अनुभव सब विलोप हो जाते हैं, विज्ञान फिर भी रहता है, यही पुराने और नए जीवन को संयुक्त करने वाली कड़ी है। यही अनागत भव की जाति है। जाति का अभिप्राय इस भव में माता की कुक्षि में आने पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आदि पंच स्कंध का प्रस्फुटन है। सामान्यतया पूर्व भवों के 'विपाक-विज्ञान' तथा कर्मज रूपों के उत्पाद को 'जाति' कहते हैं। स्पष्टतः 'जाति' कर्मभव और 'उपपत्तिभव' या यों कहें काम-भव, रूप-भव और अरू-पभव से उत्पन्न हैं। इन भवों के अभाव में 'जाति' का होना असंभव है। जरा और मरण जाति पर निर्भर है। जाति ही जरा-मरण का हेतु-प्रत्यय है। यह संस्कृत लक्षणा है। अर्थात जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता को आकृष्ट करती है। 'जाति' धर्म को भविष्यत् से बहिःनिसृत करती है और उसका प्रवेश वर्तमान में कराती है। जाति संस्कृतों का उत्पादन करती है, उसी से जरा-मरण आदि है।

(XII) जरा-मरण—जरा या बुढ़ापे का विविध रूपा वर्णन विभिन्न निकायों में हुआ है। जरा-आपन्न व्यक्ति को ललितविस्तर में तेजहीन, सूखी नदी के समान, धनहीन और ग्रिद्ध (गिद्ध) जैसा घिनौना बताया गया है। बुढ़ापे से ग्रस्त व्यक्ति मौत जैसा अप्रिय लगता है। बुढ़ापे से घिसा-पिटा, बीती उम्र का आदमी वैसा ही होता है, जैसे बिजली से झुलसा पेड़ होता है। बुढ़ापे से जीर्ण हुआ आदमी ऐसे घर जैसा होता है, जिसके गिरने का सदैव डर लगा रहता है। जैसे घने साल-वन को मालु-लता सुखा देती है। वैसे ही जरा नर-नारी गण को सुखा देती है। जरा वीर्य, पराक्रम और वेग को हर लेती है। जरा-आपन्न व्यक्ति कीचड़ में डूबे आदमी के जैसा होता है। जरा रूप को सुंदर रूप को, विरूप बना देती है। जरा तेज हर लेती है, बल-पौरुष हर लेती है, पराजय कर देती है। जरा मौत ले आती है, ओज हर लेती है, इंद्रियों की, रूप की तथा बल की परिहानि जरा से होती है।

जरा लोगों के धन-धान्य को, महान अर्थ को क्षय कर-कर समाप्त कर डालती है अर्थात उनकी धन-दौलत चिकित्सकों के हाथों में चली जाती है और वे खाली हाथ हो जाते हैं। साथ-साथ में ये बुरी तरह सताती भी रहती हैं, सब ओर से हानि करती हैं। इनके कारण प्रिय वस्तुओं से भी द्वेष हो जाता है। जैसे आकाश को सूर्य जलाता है, वैसे ही ये भी दाह-पीड़ा उपजाती हैं।[1]

मरण च्युति काल क्रिया के समान है। जैसे पेड़ से फल-पत्ते गिरते हैं, वैसे ही मरण से व्यक्ति सदा के लिए प्यारे धन-धाम एवं साथियों से बिछुड़ जाता है। यह नदी के प्रवाह जैसा है, जहां फिर लौटना तथा मिलना नहीं हो पाता है। मरण जहां वश है, वहां वश नहीं देती। मरण प्राणी को वैसे ले जाती है, जैसे नदी लकड़ी को बहा ले जाती है। बेबस, बेचारा आदमी अपने कर्म के अनुसार अकेला जाता है। मृत्यु उसी तरह सैकड़ों बहुत से जीवों को खा जाती है, जिस तरह मगरमच्छ जल लेने के लिए गए जीवों के समूह को, गरुड़ सर्प को, सिंह हाथी को तथा जैसे वन की आग घास-फूस, औषधि तथा जीवों के समूह को खा जाती है।[2] इस प्रकार जरा और मरण के क्रियात्मक रूप का कई ग्रंथों में वर्णन मिलता है, इससे जरा-मरण की भयावहता, क्षणभंगुरता आदि स्पष्ट प्रकट होती है।

अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पंर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव और जाति—इनका परिपाक जरा है और उनका भंग मरण है। जाति से वेदना अंग तक जरा-मरण है। प्रत्युत्पन्न भव के चार अंग—नामरूप, स्पर्श और वेदना अनागत भव के संबंध में जरा-मरण कहलाते हैं। यह द्वादश-संतति का बारहवां अंग है। माता के गर्भ से निष्क्रमण के पश्चात मरणपर्यंत काल को जरा तथा उत्पन्न भव से च्युत होने को मरण कहते हैं।

जरा प्रकटतः या प्रच्छन्नतः लक्षणों का अभिप्रेत नाम है, जाति के अभाव में किसी भी प्रकार का जरा-मरण संभव नहीं है। जीवन के अंतिम क्षण में विपाक नाम रूप के 'च्युतिकाल' को प्रकटतः मरण समझना चाहिए। 'च्युतिकाल' प्रकट मरण है, इससे पूर्व अप्रकट मरण है। जाति संस्कृतों का उपादान करती है, वहीं जरा उनका ह्रास करती है।

तीसरा आर्यसत्य : दुख निरोध

सामान्य विवेचन—दुखों के मूल का पता हमें दुख आर्यसत्य से ज्ञात होता है। दुख और उसके मूल की बात

1. *ललितविस्तर, श्लोक 463-472*
2. *ललितविस्तर, श्लोक 473-476*

के बाद तीसरा आर्यसत्य उजागर होता है। तीसरे आर्यसत्य को दुख निरोध कहते हैं। इस आर्यसत्य से यह सिद्ध होता है कि दुख का नाश संभव है। चूंकि दूसरे आर्यसत्य से यह स्पष्ट होता है कि दुख का कारण है, अतः यदि दुख के कारण का अंत हो जाए, तो दुख का भी अंत अवश्यम्भावी है। इसे 'दुख निरोध सत्य के नाम से अभिहित किया जाता है। दुख नाश या दुख निरोध की अवस्था का यथार्थ ज्ञान होना भी अत्यंत आवश्यक माना गया है। बौद्ध दर्शन में दुख निरोध को ही 'निर्वाण' कहा गया है। दुखों से स्थायी रूप से मुक्ति पाकर जिस निर्वाण की अवस्था प्राप्त की जाती है, वह इस जीवन में भी प्राप्य बताई गई है। ललितविस्तर में उक्त है, 'जो इसी तृष्णा को, जो पौनर्भविकी है (=बारंबार भव अर्थात जन्म का कारण है), नंदीराग से अर्थात सुख की आसक्ति से युक्त है, तत्र-तत्राभिनंदिनी (=ठौर-ठौर पर सुख चाहने वाली है), जनिका है (जन्म देने वाली है), निवर्तिका (संसार बनाने वाली) है (उसको) अशेष विराग एवं निरोध है। यह दुख निरोध है।

दुख निवृत्ति तभी हो सकती है, जब मनुष्य तृष्णा से विरक्त हो जाए, इसका परित्याग कर दे और उससे मुक्त हो जाए। तृष्णा के कारण ही भव होता है, तृष्णा के कारण ही कर्म का फल होता है। तृष्णा के नाश से अज्ञान, राग, द्वेष और मोह का नाश हो जाता है। अतः पुनर्जन्म का कोई हेतु नहीं रहता है। यह कर्म का नाश, क्लेशों का नाश है, चित्त या चेतना के स्तर पर भी दुखों से मुक्ति है। क्लेशों से अंतिम मुक्ति 'निर्वाण' कही जाती है। यह एक आनंदमय स्थिति और 'परम-पद' माना गया है। इस अस्तित्व में फिर पुनर्जन्म की संभावना नहीं रहती है। यह स्थिति अपरिवर्तनीय है। इसमें सब दुखों का पूर्ण क्षय हो जाता है। यह वह अवस्था है, जब सारी वेदनाओं और क्लेशों की समाप्ति हो जाती है। उस अवस्था में जबकि संसार की सारी भावना और अनुभूतियों का लोप हो जाता है, तो उसके संबंध में किसी भी प्रकार की निश्चित और निषेधात्मक व्याख्या नहीं की जा सकती है। अस्तु, इसे अनिवर्चनीय भी कहा जाता है।

स्पष्टतः वह कर्म जो दुख के समुदय हैं—राग, द्वेष और मोह जैसे क्लेश जो कि उनके हेतु हैं, को रोकना आवश्यक है, इसलिए कर्म व क्लेश के बीच दुख का मूल आधार क्लेश है, ज्योंही मनुष्य इस पर विचार करता है कि क्लेश दूर किए जा सकते हैं या नहीं, उसका संबंध तीसरे आर्यसत्य से—दुख निरोध आर्यसत्य से होता है। ये क्लेश हमारी चित्त की प्रकृति के मूल में नहीं होते हैं, अगर ऐसा होता, तो उनमें परिवर्तन असंभव होता है। अतः उनके हेतु का पता कर उनका पूर्ण उन्मूलन करना, पूर्ण निषेध करना इस आर्यसत्य में समाहित है। दुखों के हेतुओं के पूर्ण उन्मूलन से पूर्ण निरोध होगा। यही अंतिम निर्वाण है, वास्तविक, सदा, शांत। चार आर्यसत्यों में यह तीसरा है। यह तीसरा आर्यसत्य 'दुख निरोध', प्रथम दो सत्यों दुख और दुख समुदय को समाप्त करने का परिणाम है।

दुख निरोध आर्यसत्य का आकार

(I) यह 'निरोध' है—निरोध सत्य की प्रकृति को समझने के लिए उसका यह आकार जानना आवश्यक है। दुख निरोध आर्यसत्य के प्रथम आकार को 'निरोध' कहा जाता है। जो दुख एवं दुख समुदय हैं, वे सास्रव स्कंध हैं। सास्रव स्कंधों के क्षय को 'निरोध कहा गया है। इस आर्यसत्य से सास्रव स्कंधों का क्षय होता है। अतः यह निरोध सत्य है। निरोध, पूर्व दुख का उपरम और उत्तर दुख का असम्बंध है। इस प्रकार निरोध सःसरण का उपच्छेद करता है। निरोध सत्य इस बात का प्रतिपक्ष करता है कि 'निर्वाण या मोक्ष नहीं है।' अर्थात यह आर्यसत्य कारण की समाप्ति पर निर्वाण या मोक्ष की स्थापना को प्रबल करता है। दुख निरोध आर्यसत्य का ऐसा स्वरूप होने के कारण इसे 'निरोध' कहा जाता है।

(II) निरोध आर्यसत्य 'शांत' है—निरोध आर्यसत्य की स्वरूप व्याख्या में इसका दूसरा आकार भी बताया जाता है, जिसमें निरोध को 'शांत-आकार' का उल्लेखित किया जाता है। दुख निरोध आर्य-सत्य शांत आकार का कहा जाता है, क्योंकि यह तीन संस्कृत लक्षण से विमुक्त है अर्थात यह जाति, जरा और स्थिति से विमुक्त है। भगवान ने कहा है, 'हे भिक्खुओ, सब संस्कार दुख है, केवल निर्वाण सर्वथा शांत (संयुत्त, 17, 16) है। निरोध की शांत प्रकृति इस

दृष्टि का प्रतिपक्ष उजागर करता है कि 'निर्वाण या मोक्ष' दुख है। इसमें सभी राग, द्वेष और मोह—इन तीनों अग्नियों का निर्वाण हो जाता है, इस कारण दुख निरोध आर्यसत्य शांत कहा जाता है।

(III) निरोध आर्यसत्य 'प्रणीत' है—निरोध आर्यसत्य को 'प्रणीत' कहा जाता है, क्योंकि यह परमार्थ शुभ है। इससे कोई अनुत्तर नहीं है। निरोध सर्व दुख से रहित होने के कारण प्रणीत कहा जाता है। इसे निरूपद्रवत्वात् (उपद्रव=दुख) अर्थात उपद्रव रहित बताया गया है। निरोध के स्वरूप का 'प्रणीताकार' इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि ध्यान और समापति का सुख 'प्रणीत' है।

(IV) निरोध आर्यसत्य 'निःसरण' है—निरोध आर्यसत्य की प्रकृति का एक आकार 'निःसरण' कहा जाता है। सर्व दुख कारण से विमुक्त होने के कारण निरोध आर्यसत्य का 'निःसरण आकार' सिद्ध होता है। इससे परम आश्वास मिलता है। निरोध आर्यसत्य परम आश्वास देने वाला है, अस्तु; यह निःसरण है। यह अविवर्त्य स्वरूप का है। अर्थात इसमें विवर्तन नहीं है। निरोध आर्यसत्य का 'निःसरणाकार' इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि 'निर्वाण (मोक्ष) परिहाणिशील है', आत्यांतिक नहीं है। स्पष्ट है कि निरोध आर्यसत्य मोक्ष की अंतिम स्थापना करता है, जो निःसरण है। इस सत्य का ऐसा स्वरूप होने के कारण ही निरोध को 'निसरणाकार' कहा जाता है।

त्रिपरिवर्त और द्वादशाकार—इस आर्यसत्य के भी तीन परिवर्त हैं— (I) यह दुख निरोध आर्यसत्य है, (II) यह परिज्ञातव्य है और (III) यह परिज्ञात है। एक-एक परिवर्त में चक्षु, ज्ञान, विद्या, बुद्धि का उत्पाद होता है। अतः यह 12 आकार है। इन तीन परिवर्तों से दर्शन मार्ग, भावना मार्ग और अशैक्ष मार्ग दर्शित होते हैं।

चौथा आर्यसत्य : दुख निरोध मार्ग

सामान्य विवेचन—दुखों के हेतुओं के निरोध का जो मार्ग है, वही 'मार्ग-सत्य' कहा जाता है। सारे दोष चित्त में अवस्थित होते हैं, अतः इस चित्त के स्वभाव और उसकी अंतिम स्थिति को जानना इस आर्यसत्य में समाहित है। इसे दर्शन मार्ग से जाना जाता है, भावना मार्ग से अनुभूत किया जाता है और यह व्यवहार का अंग बन जाता है। ऐसा होने के लिए व्यक्ति को शमथ और विपश्यना का मार्ग अपनाना होता है, शैक्ष और अशैक्ष धर्मों की पालना करनी होती है। वह बोधिपक्षीय मार्ग ही आर्य आष्टांगिक मार्ग के नाम से बौद्ध धर्म में जाना जाता है, वही दुख निरोध का मार्ग है या मार्ग सत्य है। इस मार्ग पर चलकर हम अपने को दुखों से मुक्त कर सकते हैं। इस मार्ग पर चलने के लिए हमें चित्त की वृत्तियों का परिष्कार करना पड़ता है, जिंससे चित्त विशेष प्रकार के उत्कृष्ट ज्ञान से संपन्न हो जाता है। चित्त की विभिन्न स्थितियां हेतु और अवस्थाजन्य होती हैं, चित्त की कुछ प्रवृत्तियां ऐसी भी होती हैं, जिनके कारण चित्त को सद् या असद् अवस्थाओं मे परिवर्तित करना संभव होता है। अतः इन तृष्णाओं (क्लेशों-आस्रवों) और पूर्व धाराओं को समाप्त करना संभव होता है।

यह दुख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग है। इस मार्ग के आठ अंग हैं, अतः इसे आर्य आष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। यह निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है। जिन कारणों से दुख उत्पन्न होता है, उन कारणों के नाश का उपाय ही निर्वाण-मार्ग कहा गया है। धम्मपद में इसकी महिमा गाथाओं में कही गई है।

एसो व मग्गो नत्थन्जो दस्तनस्स विसुद्धिया।
एवं हि तुम्हे पटिपज्ज्य, मारस्सेन पमोहनं।। 20/211 आदि.....

इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध दुख की व्यापकता का अनुभव करके भयभीत नहीं हुए, बल्कि उसके विनाश का मार्ग खोज निकाला। यह ज्ञान उन्होंने कराया, कोई भी इस मार्ग पर चलकर दुखों का अंत कर सकता है। यह दुख निरोधगामिनी प्रतिपद कहा जाता है। प्रतिपद का अर्थ है—मार्ग, यह दुख के विनाश तक पहुंचाने वाला मार्ग है। इसे शील-समाधि और प्रज्ञा भी कहा जाता है। यह सम्यक कर्मों का रास्ता है, सदाचरण का मार्ग है, दुख नाश का साधन है। यह जीवन पद्धति का प्रतिपादन है। यह दोनों अतियों के बीच का मार्ग है अर्थात 'मध्यमा प्रतिपद' है। इसके आठ अंग हैं।

दुखनिरोध मार्ग का आकार

इस आर्यसत्य के भी चार स्वरूप या आकार प्रतिपादित किए गए हैं, जो इसकी प्रकृति को स्पष्ट करते हैं, वे हैं—

(I) मार्गसत्य 'गमनार्थ' है—दुख निरोधगामिनी प्रतिपद के 'गमनार्थ' से यह प्रज्ञापित होता है कि यह मार्ग आकार का है। यह मार्ग है, क्योंकि आर्य निर्वाणाभिमुख हो उस पर जाते हैं। यह मार्ग 'सत्य' है, क्योंकि यह मिथ्या मार्ग का प्रतिपक्ष है। जिस प्रकार यथार्थ मार्ग पर चलकर राही अपने गंतव्य तक पहुंच जाता है, वैसे ही इस निर्वाणाभिमुख मार्ग पर आरूढ़ होकर निर्वाणगामी अपने परम सत्य को प्राप्त करता है। यह यथार्थ मार्ग के सदृश है, अतः इसका मार्ग आकार स्पष्ट होता है। इस आकार से यह स्पष्ट होता है कि ऐसा नहीं है कि कोई मार्ग है ही नहीं अर्थात मार्ग सत्य का 'मार्ग-आकार' इस दृष्टि का कि 'कोई मार्ग नहीं है' का प्रतिपक्ष अवबोध देता है।

(II) मार्गसत्य 'न्याय' है—मार्ग सत्य का दूसरा आकार 'न्याय' बताया गया है, स्पष्टतः यह अन्याय का प्रतिपक्ष है। इसका स्वरूप न्याय, उचित या अभ्यास है, क्योंकि यह 'योगयुक्त' है। मार्ग सत्य उपपत्तियुक्त, प्रमाण-समन्वागत, उपाययुक्त व साधनयुक्त है, अपने यथाभूतवर्तन स्वरूप के कारण यह सत्य है। अतः इसे 'न्याय-आकार' का कहा जाता है। मार्ग सत्य का 'न्याय-आकार' इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि 'एक मिथ्या मार्ग है।' इससे स्पष्ट होता है कि मार्ग एक ही है, अन्य या अनेक नहीं है।

(III) मार्गसत्य 'प्रतिपद' है—मार्ग सत्य को 'प्रतिपद' या अधिगम कहा जाता है, यह इसकी प्रकृति का तीसरा आकार है। मार्ग सत्य को 'प्रतिपद' या 'अधिगम' कहा जाता है, क्योंकि इसकी सहायता से सम्यक प्रतिपादन होता है। सम्यक 'प्रतिपादन' अर्थ के कारण मार्ग सत्य का 'प्रतिपद-आकार' ज्ञापित होता है। इसके द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। मार्ग सत्य 'निर्वाण-पुर' का विरोध नहीं करता है, इससे निर्वाण विरुद्धता नहीं है, अतः यह प्रतिपद है। मार्ग सत्य का स्वरूप 'प्रतिपद' इसलिए भी कहा जाता है, क्योंकि यह प्रतिनियत है—'पद-प्रति-पद' यह नियत है, अर्थात इसी मार्ग से आगमन होता है, दूसरे मार्ग से नहीं। इस प्रकार मार्ग सत्य का यह स्वरूप 'एक दूसरा मार्ग है', इसका प्रतिपक्ष भी प्रस्तुत करता है। अस्तु, 'मार्ग-सत्य' को 'प्रतिपद-आकार' का निरुपित किया जाता है। यह विशुद्धि का मार्ग है, अन्य मार्ग द्वारा विशुद्धि का प्रतिपादन नहीं होता है, अस्तु, यह 'प्रतिपद' है।

(IV) मार्गसत्य 'नैर्याणिक' है—मार्गसत्य के चौथे आकार की व्याख्या इसके 'नैर्याणिक-आकार' के रूप में की जाती है। यह नैर्याणिक आकार का है, क्योंकि यह अत्यंत निर्याणदायी है (अत्यंत निर्याणाय प्रभवति), क्योंकि यह अत्यंत रूप से संसारातिक्रमण में समर्थ होता है। यह भवत्रय का प्रतिषेध-प्रहाण करना है, अस्तु, नैर्याणिक है। स्पष्टतः भवत्रय से आत्यंतिक विमुक्ति के कारण इसका नैर्याणिक आकार स्पष्ट होता है। इससे मार्ग की परिहाणि नहीं होती है। इसका यह आकार इस मिथ्यादृष्टि का कि 'मार्ग की परिहाणि हो सकती है' का प्रतिपक्ष है।

त्रिपरिवर्त और द्वादशाकार—इस आर्यसत्य के भी तीन परिवर्त हैं—(I) यह दुख 'निरोधगामिनी प्रतिपद' आर्यसत्य है, (II) यह परिज्ञातव्य है और (IV) यह परिज्ञात है। एक-एक परिवर्त में चक्षु, ज्ञान, विद्या बुद्धि का उत्पाद होता है। अतः यह 12 आकार है। इन तीन परिवर्तो से दर्शन मार्ग, भावना मार्ग और अशैक्ष मार्ग दर्शित होते हैं।

आर्य आष्टांगिक मार्ग

सम्यक्सम्बुद्ध ने जिन आर्यसत्यों का निरूपण किया है, उनमें दुख निरोधगामिनी प्रतिपदा या चौथा आर्यसत्य वह मार्ग है, जिस पर आरुढ़ होकर प्राणी निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। दुख के जो उपाय हैं, उन्हें उत्तम मार्ग से विभूषित करते हुए उसे बौद्ध धर्म में आर्य आष्टांगिक मार्ग के नाम से अभिसंज्ञेय किया गया है। दुख-विनाश की ओर ले जाने के कारण इस आर्यसत्य को मार्ग कहा गया है। इसके आठ अंग होते हैं, अतः यह आर्य आष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। यह ज्ञातव्य है कि क्लेश-कर्मवश दुख की उत्पत्ति होती है, अतः दुख के निरोध के लिए क्लेश-बीज को दग्ध करना चाहिए। क्लेश-बीज अनुशय है। यह काम राग, भव राग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि तथा विचिकित्सा है। इसे सम्यक तरीके से जान कर उनसे परे पहुंचा जा सकता है। इस हेतु भवार्णव प्राणी को शील, समाधि और प्रज्ञा का मार्ग अपनाना चाहिए। इस मार्ग के आठ अंग इस प्रकार से कहे गए हैं—

(I) सम्यक दृष्टि—सम्यक दृष्टि को यथार्थ दृष्टि या ठीक दृष्टि कहा जाता है। कायिक, वाचिक, मानसिक, भले-बुरे कर्मों के ठीक-ठीक ज्ञान को सम्यक दृष्टि कहते हैं। अविद्या के कारण आत्मा तथा संसार के संबंध में मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है। मिथ्यादृष्टि के कारण हम अनित्य, दुख तथा अनात्म को नित्य, सुख तथा आत्मरूप मान बैठते हैं। सम्यक दृष्टि से ही मिथ्यादृष्टि का नाश संभव है। सम्यक दृष्टि से ही कुशल और अकुशल कर्म का ज्ञान संभव है। जब तक कुशल कर्मों का ज्ञान नहीं होता, तब तक कुशल कर्मों का आचरण भी नहीं होता है। अतः सम्यक दृष्टि आचार-मार्ग का प्रथम अंग है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार कायिक अकुशल (बुरे) कर्म हैं। वहीं अहिंसा, अचोरी, अव्यभिचार कायिक कुशल (भले) कर्म हैं। मिथ्या भाषण, चुगली, कटु-भाषण, बकवास वाचिक अकुशल (बुरे) कर्म हैं। वहीं अमिथ्या भाषण, चुगली नहीं करना (न-चुगली), अ-कटुभाषण तथा बकवास न करना वाचिक कुशल (भले) कर्म हैं। लोभ, प्रतिहिंसा, झूठी धारणा मानसिक अकुशल (बुरे) कर्म हैं। वहीं अलोभ, अप्रतिहिंसा तथा झूठी धारणा नहीं रखना कुशल (भले) मानसिक तथा चार आर्य-सत्यों का ज्ञान ही सम्यक ज्ञान या सम्यक दृष्टि है।

(II) सम्यक संकल्प—राग, हिंसा, प्रतिहिंसा रहित संकल्प को सम्यक संकल्प कहा जाता है, इसका तात्पर्य दृढ़ निश्चय करना है। ठीक संकल्प (सम्यक संकल्प) के दो अंग हैं—शुभ संकल्प का ग्रहण करना तथा अशुभ संकल्प का त्याग करना। आर्यसत्यों के ज्ञान मात्र से ही कोई लाभ नहीं हो सकता है, जब तक कि उनके अनुसार जीवन बिताने का दृढ़ निश्चय न किया जाए। जो अपना भला चाहते हैं, निर्वाण के आकांक्षी हैं, उन्हें सांसारिक विषयों की आसक्ति, दूसरों के प्रति विद्वेष और हिंसा—इन तीनों का परित्याग करने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए। यह निश्चय सम्यक संकल्प कहा जाता है।

(III) सम्यक वाक्—झूठ, चुगली, कटु-भाषण और बकवास से रहित सच्ची मीठी बातों का बोलना अर्थात अनुचित वाणी का त्याग सम्यक वाक् है। मिथ्यावादिता, अप्रियवचन तथा वाचालता—ये चार वाणी के दोष बतलाए गए हैं, इनसे मनुष्य को बचना चाहिए तथा मंगलमय (कल्याणकारी), मित्त (संक्षिप्त) और मधुर (प्रिय) वाणी का प्रयोग करना चाहिए। यह शील को प्रतिष्ठित करने वाला होता है।

(IV) सम्यक कर्मांत—हिंसा, चोरी, व्यभिचार रहित कार्य ही सम्यक कर्म है। सम्यक कर्मांत में पाप-कर्मों का त्याग सन्निहित है। हिंसा, स्तेय, (चोरी) और इंद्रिय-निग्रह का अभाव—ये सभी निंदनीय कर्म माने गए हैं। इसके विपरीत अहिंसा, अस्तेय, इंद्रिय-निग्रह ही कुशल (पुण्य) कर्म हैं। स्पष्टतः कुशल (पुण्य) कामों का संपादन सम्यक कर्मांत है।

(V) सम्यक आजीव—जीविका निर्वाह के लिए उचित मार्ग का अनुसरण तथा निषिद्ध मार्ग का त्याग ही सम्यकाजीव है अर्थात झूठी जीविका छोड़ सच्ची जीविका से भव की शरीर-यात्रा चलानी चाहिए। जीविका का उपार्जन उचित मार्ग से होना चाहिए, अनुचित मार्ग से नहीं। दूसरों को क्लेश देकर तथा दूसरों की हिंसा करके जीविका उपार्जन करना अनुचित मार्ग है। जीविका उपार्जन हेतु बौद्ध धर्म में निम्न जीविका निषिद्ध मानी गई है—शस्त्र का व्यापार, प्राणी का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार तथा विष का व्यापार, स्पष्टतः प्राणी हिंसा संबंधी जीविका अनुचित है। इन सभी निषिद्ध कर्मों को छोड़कर उचित मार्ग से जीविकोपार्जन करना चाहिए।

(VI) सम्यक व्यायाम—सम्यक व्यायाम या सम्यक प्रयत्न इंद्रिय संयम, बुरी भावनाओं का निरोध तथा अच्छी भावनाओं के उत्पादन तथा उत्पन्न हुई अच्छी भावनाओं को कायम रखने का प्रयत्न है। स्पष्टतः शुभ विचारों का ग्रहण और अशुभ विचारों का परित्याग करने के लिए प्रयत्न ही सम्यक व्यायाम है। कुशल कर्म का ग्रहण व अकुशल का परित्याग इसमें सन्निहित है। मनुष्य को अपने भले के लिए निरंतर इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि—(1) पुराने बुरे भावों का विनाश हो जाए और (2) बुरे भाव भी मन में न आवें, चूंकि मन कभी भी विचारों से खाली नहीं रहता है, अतः (3) मन को बराबर अच्छे-अच्छे विचारों से पूर्ण रखना चाहिए और (4) इन शुभ विचारों को मन में धारण करने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। इन चार प्रकार के प्रयत्नों को सम्यक प्रयत्न या सम्यक व्यायाम कहते हैं। सम्यक व्यायाम से इस बात का बोध होता है कि धर्म-मार्ग में बहुत आगे बढ़े हुए व्यक्ति को भी अपने प्रयत्न को

ढीला नहीं छोड़ना चाहिए, अन्यथा मार्ग से स्खलन की संभावना सदैव बनी रहती है। ऐसे सभी प्रयत्न सम्यक व्यायाम कहे गए हैं।

(VII) सम्यक स्मृति—ज्ञात विषयों का यथार्थ स्मरण ही सम्यक स्मृति है। भक्तिकाल में संतों ने इसे 'सुरता' के रूप में भी अभिव्यक्त किया है। काया, वेदना, चित्त और मन के धर्मों की ठीक स्थितियों का ज्ञान अर्थात उनके मलिन, क्षण-विध्वंसी आदि होने के ज्ञान का सदा स्मरण करना सम्यक स्मृति है। जिन विषयों का सम्यक ज्ञान हो चुका है, उन्हें पुनः-पुनः याद करना चाहिए। जैसे—शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को चित्त और चैतसिक और मानसिक अवस्था को मानसिक रूप में ही चिंतित करते रहना चाहिए। सम्यक स्मृति के निम्न चार अंग बताए गए हैं—(1) कायानुपश्या अर्थात शरीर को क्षणिक और विनाशी समझने वाला कायानुपश्यी है, (2) वेदना को सुखात्मक, दुखात्मक और अदुखासुखा (उभयात्मक) समझने वाला वेदनानुपश्यी है, (3) चित्त के सराग और विराग रूप को जानने वाला चित्तानुपश्यी है तथा (4) धर्म को राग, द्वेष, मोह आदि से रहित जानने वाला धर्मानुपश्यी है। इस प्रकार सतत स्मरण ही सम्यक स्मृति है। स्पष्टतः इस सम्यक स्मृति से इन विषयों के यथार्थ स्वरूप का ध्यान बना रहता है। यह इस अंग की विशेषता है।

(VIII) सम्यक समाधि—बौद्ध धर्म में समाधि का सबसे अधिक महत्त्व बतलाया गया है। यह आर्य आष्टांगिक मार्ग का अंतिम अंग है। चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। सम्यक समाधि वह है, जिससे मन के विक्षेपों को हटाया जा सके। इसके दो अंग बताए गए हैं—(1) चित्त की एकाग्रता और (2) प्रज्ञा। तथागत सम्यक्सम्बुद्ध का बोधिवृक्ष के नीचे एकाग्रचित हो समाधिस्थ होना और प्रज्ञा प्राप्त करना, इस समाधि का अनुपम लाभ है। इससे अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है, जिससे मनुष्य को दुख, अनात्म और अनित्यता का ज्ञान होता है। समाधि में ध्यान की विभिन्न अवस्थाएं बतलाई गई हैं। उन सबका निरूपण विस्तार-भय से यहां नहीं दिया जा रहा है। आर्यसत्यों पर चिंतन व उनका ज्ञान अनुपम आनंददायी और निर्वाणदायी होता है। इससे अंतःकरण शुद्ध-प्रबुद्ध होता है। यह अवस्था पूर्ण शांति, पूर्ण विराग तथा पूर्ण निरोध की है। यह सुख और दुख से रहित अवस्था है, जिसे 'परम-पद', 'परम-शक्ति', 'निरंजन-अवस्था' आदि से भी अभिप्रेत किया जाता है। विपश्यना और शमथ के माध्यम से भी इसे समझाया जाता है। साधना में इसकी अप्रतिम प्रतिष्ठा है।

बौद्ध धर्म में व्याख्या प्राप्त यह आर्य आष्टांगिक मार्ग प्रज्ञा, शील और समाधि का मार्ग भी कहा जाता है। सम्यक दृष्टि और सम्यक संकल्प प्रज्ञा-पक्ष हैं, सम्यक वाणी, सम्यक कर्मांत व सम्यकाजीव शील-पक्ष हैं तथा सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि—ये 'समाधि-पक्ष' हैं। इस प्रकार आर्य आष्टांगिक मार्ग प्रज्ञा-शील-समाधि का मार्ग है। बोधिपक्षीय धर्मों में यह सन्निहित है। प्रव्रजित भिक्खु के अतिरिक्त एक गृहस्थ संयम, संतोष एवं शुभ कार्यों को अपनाते हुए इस मार्ग का अनुसरण कर सकता है। इस मार्ग के अनुसरण से प्रत्यक्ष जीवन में सुख और कल्याण तथा लोकोत्तर जीवन में सद्गति का लाभ होता है। तथागत की समस्त शिक्षाओं को धम्मपद की इस गाथा में व्यक्त कर सकते हैं—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।।

भवतु सब्बमंगलं।

इतियत्नम्

—ताराराम

जोधपुर
9 फरवरी, 2004

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका निद्देस

7. अरहन्त वग्गो

8. सहस्स वग्गो

9. पाप वग्गो

10. दण्ड वग्गो

11. जरा वग्गो

12. अत्त वग्गो

13. लोक वग्गो

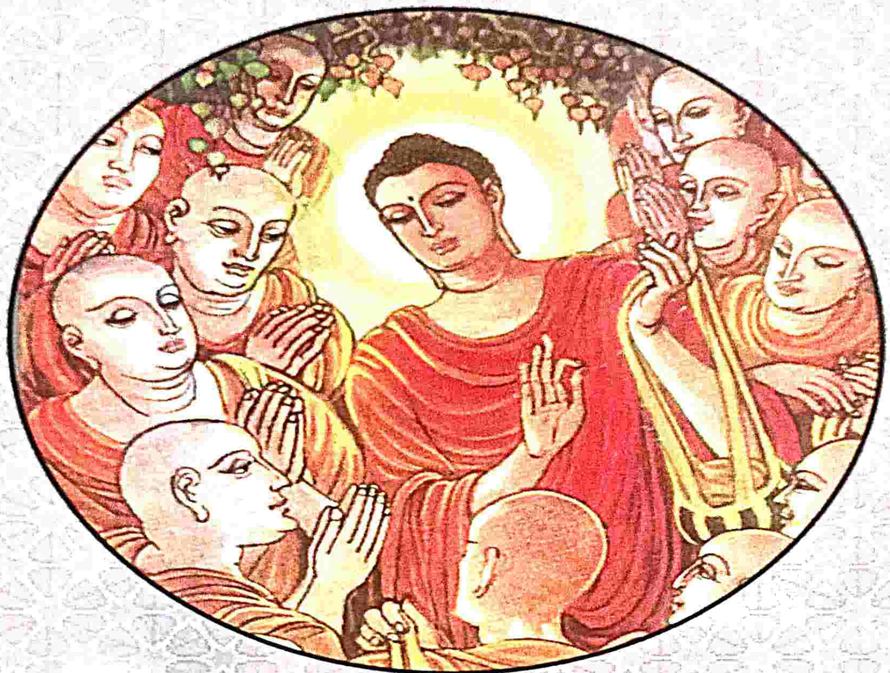
22. निरय वग्गो

23. नाग वग्गो

24. तण्हा वग्गो

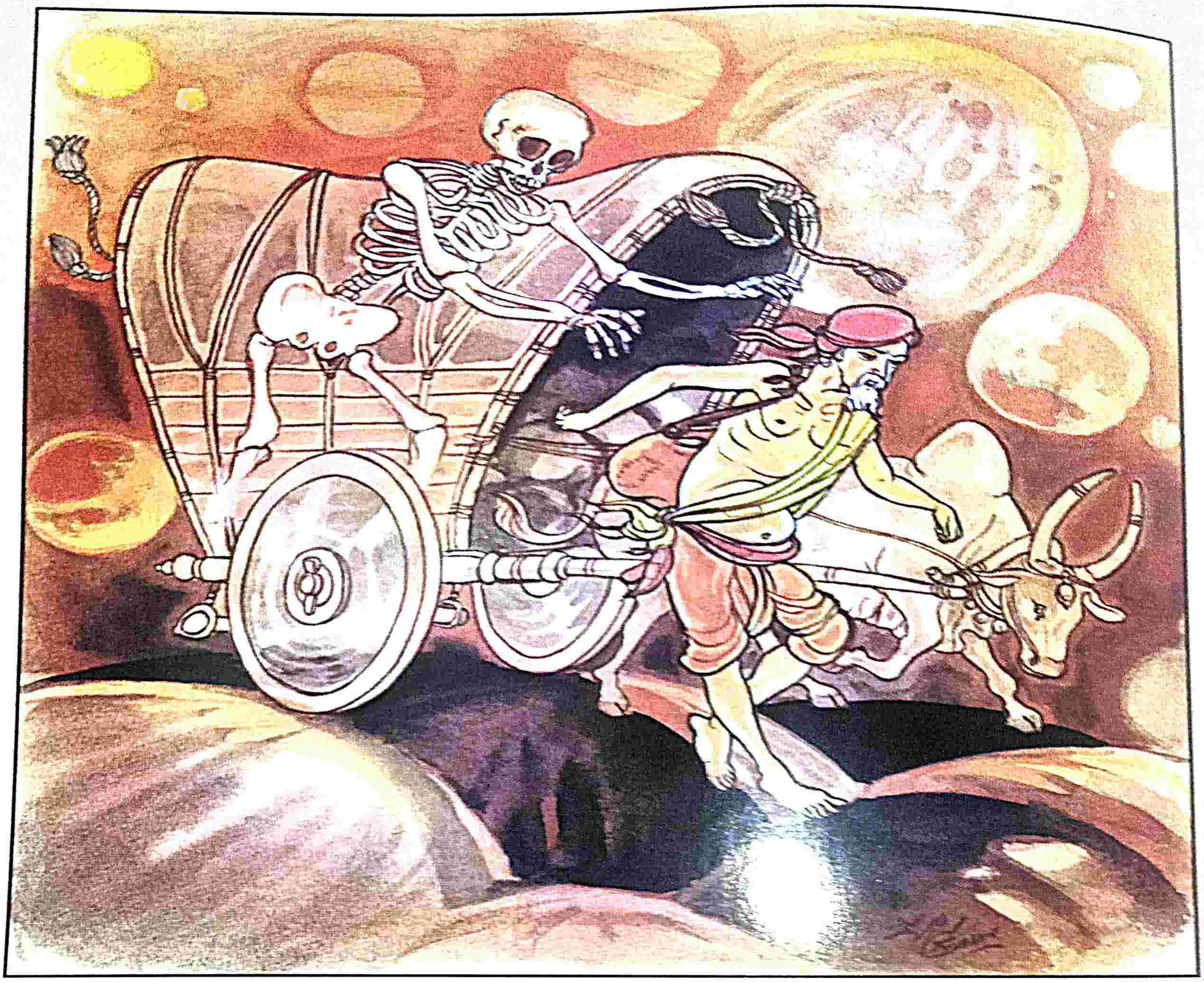
25. भिक्खु वग्गो

26. ब्राह्मण वग्गो



यमक वग्गो

THE TWIN VERSES



मनो पुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा,
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं' व वहतो पदं।।

अर्थ : मन सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है, मन उनका प्रधान है, वे मन से ही उत्पन्न होती हैं। यदि कोई दूषित मन से वचन बोलता है या पाप कर्म करता है, तो दुख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कि चक्का (पहिया) गाड़ी खींचने वाले बैलों के पैरों का।

2. गाथाएं

वग्ग 1, गाथा 1

मन ही प्रधान है

(चक्खुपाल स्थविर की कथा, स्थान—सावत्थि (श्रावस्ती)

1 धन्य है—अनाथपिण्डिक ! धन्य है—वह सुरम्य जेतवन, जहां हमारे शास्ता ने अपने पच्चीस वर्षावास बिताये।[1] जेतवन का चुनाव उत्तम है, अनाथपिण्डिक की श्रद्धा वन्दनीय है। शास्ता जब सावत्थि आए तो पूरा जन-सैलाब उनकी आवभगत में जुट गया। अनाथपिण्डिक भी एक श्रद्धालु उपासक था, उसने संघ से निवेदन किया कि भगवान के ठहरने की व्यवस्था का अवसर उसे दिया जाय। **सारिपुत्त** ने अनाथपिण्डिक को संघ की सहमति बतलायी। वह बहुत भाव-विभोर था। वह अपने शास्ता की आवभगत में कोई कमी नहीं रखना चाहता था। उपासक, श्रावकों और श्रोताओं की सुविधाओं का भी उसे पूरा ख्याल था। भगवान के लिए ऐसी उपयुक्त जगह की तलाश के लिए वह इधर-उधर दौड़-धूप करने लगा। उसे एक ऐसे स्थल की तलाश थी, जो न तो नगर से ज्यादा दूर हो और न ही नगर के ज्यादा निकट। वह जगह सुरम्य हो, वातावरण व मन को हर्षित करने वाली हो और श्रद्धालुओं को जहां तकलीफ भी न हो। साथ ही वह चाहता था कि यह जगह त्रिलोकदीप तथागत की भव्यता के अनुरूप भव्य भी हो। उसके मानस पटल पर कई तरह के विचार-प्रवाह उदित और अस्त हो रहे थे। उसे एक जगह दिख पड़ी, वह उसको निहारने लगा, मन ही मन पुलकित हुआ और बोल उठा, "अति उत्तम ! अति-उपयुक्त !" उसके स्वामी का पता किया, उससे वह जमीन प्राप्त करने की बात की गयी।

जमीन के स्वामी का तकाजा था, "इस जमीन को सोने से ढ़क दो, तो तुम्हारी !" अनाथपिण्डिक यह मौका गंवाना नहीं चाहता था। वह नगर में सबसे धनी सेठ था—नगर श्रेष्ठि था। धन-दौलत की कमी उसे कभी नहीं थी। उसके भण्डार अक्षुण्ण थे। उसने अपने नौकरों को आज्ञा दी, "भण्ड़ार से गाड़ियों में लाद कर स्वर्ण मुद्रायें लायी जायं और धरती को स्वर्ण से पाट दिया जाय। जगत् के त्राता, अन्धकार को दूर करने वाले, निरंजननाथ तथागत के उपयुक्त इस धरा को बनाना है।" नौकर चल पड़े, बैलगाड़ियां स्वर्ण मुद्राओं से भरी हुई आ चुकी थीं, उनका बिछावन धरती पर किया गया। पूरा का पूरा भू-भाग स्वर्णाच्छादित हो चुका था, स्वर्णप्रभा की मनोहर किरणें अति मोहक व गंभीर प्रतीत हो रही थीं। पूरा क्षेत्र सोने की मुद्राओं से ढ़का जाता देख रहा था— उस जमीन का स्वामी जेत। वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ था, उसने सपने में भी नहीं सोचा था कि ऐसा भी हो सकता है— क्या, कभी ?

फिर भी वह क्या करे, उसके मुख से जो निस्सृत हो गया था, उसी को तो अंजाम दे रहा

1. धम्मपद अट्ठकथानुसार भगवान बुद्ध ने जेतवन महाविहार में उन्नीस और पुब्बाराम विहार में छः वर्षावास बिताये

है अनाथपिण्डिक। न्यायालय में भी वाद को घसीटा था, पर उसे हाथ कुछ नहीं लगा था— जमीन को बचाने के लिए। वह समझ चुका था कि उसे यह जमीन अनाथपिण्डिक को देनी ही पड़ेगी, आखिर उसे मुंह मांगे दाम जो मिल रहे हैं, फिर अपने कौल का, अपने वायदे का भी तो सवाल है। स्वर्ण-लदी गाड़ियां रिक्त हो गयीं, जमीन का थोड़ा सा टुकड़ा बचा रह गया।

अनाथपिण्डिक का आदेश था— "गाड़ीवानो ! जल्दी करो, पुनः भण्डार से स्वर्णमुद्राएं लाओ, मैं इसका भी यही मूल्य दूंगा।"

गाड़ीवान उद्यत हुए, इतने में धरापति श्रद्धावनत हो बोल उठा, "यह मेरे लिए रहने दो, आपकी इतनी अगाध श्रद्धा के आगे मैं नतमस्तक हूं, आपके प्रताप से मुझे भी तो कुछ दायक बनाओ ! भगवान के चरण-रज की वंदना में मैं इसे न्यौछावर करता हूं।" अजीब पराकाष्ठा थी अनाथपिण्डिक की श्रद्धा की और उस भूपति के श्रद्धा-प्रस्फुटन की।

अनाथपिण्डिक ने तथागत के लिए वहां सभी सुविधाओं से सम्पन्न विहार बनवाया और उस जेतवन के स्वामी ने भगवान के आगमन पर आवभगत हेतु तोरणद्वार भी बौद्ध जगत् में सावत्थि का यह स्थल, धरती का एक टुकड़ा मात्र नहीं है, यह उनकी श्रद्धा और भक्ति का अनुपम प्रेरणा-स्रोत है। जहां से सदियों तक बुद्ध के प्रभास्वर विश्व के कोने-कोने में गुंजायमान हुए हैं, होते रहे हैं।

तथागत उसी जेतवनाराम विहार में विहरते थे। उनके प्रवचन दिन-प्रतिदिन उपासकों को आह्लादित ही नहीं करते थे, बल्कि संसार के भवचक्र, बंधन की गांठों को ढीला करने और खोलने में शक्ति प्रदान करते थे। उपासक धन्य होते थे उस महाकारुणिक के हृदय से निकले अनमोल वचनों का अमृतपान करके। श्रमण और भिक्खु अपने 'आलोक-दीप' से ज्ञान की रश्मि पाने के लिए सदैव लालायित रहते थे, परन्तु भगवान का आदेश था— चलते रहो ....! चलते रहो........!!. बहुजन हिताय........! बहुजन सुखाय........!! इस लोक के कल्याण के लिए ! अपने कल्याण के लिए!! भिक्खु अनवरत साधना में लग्न रहते थे, सभी अपने-अपने कर्मों के फलों की निष्पत्ति भुना रहे होते थे। इस साधना के पथ पर अनेक बार व्यवधान भी आते थे, तो लालच और प्रलोभन की बेड़ियों की जकड़न भी घेर लेती थी। कई लोग न चाहते हुए भी वह कर बैठते, जो उनके लिए 'अकृत्य' होता था। भिक्खुओं का आपसी सदाचार और समभाव वंदनीय है, अनुकरणीय है। सबके साथ सबका भला उनका निहित ध्येय था, कोई किसी की राह की रुकावट नहीं था, उसके राह का हमराही था। अपनी अनुभूतियों को एक-दूसरे से मिल बैठकर परखते थे, जहां कहीं भी उन्हें तिमिराच्छादन दिखता, वे शास्ता के पवित्र वचनामृत से प्रेरणा प्राप्त कर पुनः अपने-अपने ध्येय में लग जाते। ऐसे ही एक दिन **थेर चक्खुपाल** नामक भिक्खु तथागत के दर्शन को आए थे, जेतवन की सुरम्य वाटिका और विहार में अपने शास्ता को उसने अपनी श्रद्धा की सौगात न्यौछावर की।

जेतवन विहार में रहते हुए भी भिक्खु अपनी साधना का भरपूर आनंद लेते थे। साधना उनके जीवन का अंग और ध्येय बन चुकी थी। सूर्य अस्तांचल की ओर जा चुका था। थेर चक्खुपाल

साधनामग्न हो चुके थे। साधनारत भिक्खु का 'विपश्यना' विहार अनुपम है। अपने हृदय को आलोकित कर देती है यह विपश्यना। मनुष्य के अंधकार और आवरण में गुम हुए उस 'बुद्ध प्रकृति' के बीज को तलाशने और तलाशकर तराशने की एक अति उत्तम पवित्र विधि है—यह विपश्यना। सारा जगत् उसमें समा जाता है और अकिंचन मन भी उसमें तिरोहित हो जाता है। एकाकार होने की अनुभूति 'स्व' से निकलकर 'अनात्म' तक पहुंचाने वाली इस प्रेरणादायी प्रवृत्ति में चक्खुपाल डूब चुके थे। कुछ कीट, पंतग वहां अपनी जीवन-लीला न्यौछावर कर गए। 'विपश्यना' की अनुभूति में अंधकार के आवरण की पर्तें खुल जाती हैं। परन्तु इस प्रवाहमान संसार में जब सब वस्तुएं एक सी ही हैं, तो अपने प्रेय और श्रेय के लिए दूसरे का अहित करना तो ध्येय नहीं हो सकता। जाने या अनजाने में भी अगर किसी प्राणी के दिल को दुखाया या सताया गया है, तो वह उचित कैसे ठहराया जा सकता हैं ? एक तरफ जहां 'अनात्मस्वरूप विश्व' की बात करते हैं, वहीं अपने को दूसरों से विलग करके देखते हो, यह तो कोई बात नहीं, जिसे धम्म के शास्ता ने दर्शाया हो।

सुबह हो चुकी थी, पक्षी अपने जीवन-चक्र में व्यस्त हो चुके थे, भिक्खु अपना विपश्यना-ध्यान लगा चुके थे। कुछ भिक्खुओं ने देखा कि थेर चक्खुपाल जहां रात को विपश्यना-मग्न थे, वहां कुछ कीट-पतंगों के अंदर अब प्राण की वायु का संचरण नहीं रह गया है। उनको यह सुभीता नहीं लगा, भगवान ने कहा है—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।।

फिर यह तो कीट-पतंगों के अनायास, मरने का प्रकरण है। निश्चय ही थेर ने असावधानी बरती है, या उसने जानबूझकर अपने आसन को उपयुक्त बनाने के लिए यह कृत्य किया होगा और यह कृत्य उनके आश्रम में हुआ है। उस विहार में, जहां स्वयं भगवान तथागत विराजमान हैं। अगर अंयत्र होता, तो वे भिक्खुओं की सभा बुलाते और भगवान के शासन के अनुरूप उसका निरूपण और निराकरण करते, अब तो उनके पास एक ही आलम्बन शेष रह गया था और वह था—तथागत भगवान को इससे अवगत कराया जाय और आगंतुक भिक्खु को 'शास्ति' से त्रस्त किया जाय, ताकि वह धर्म पर आरूढ़ रह सके, धर्म के मर्म को जान सके।

ऐसा सोचते-समझते वे तथागत के सम्मुख गए, अभिवादन किया और एक ओर बैठ गए। उन्होंने विस्तार से तथागत के सामने इस प्रकरण को पूरी निष्ठा से रखा और वे अपने शास्ता से धर्म के मर्म की भेदकारक रश्मि को उद्घाटित होते सुनना चाह रहे थे। शास्ता शान्त थे, स्थिर थे। उन्होंने प्रश्न किया, "हे भिक्खुओ ! क्या आपने उस भिक्खु को कीट-पतंगों को मारते हुए देखा है ? जैसे आपने उसको कीट-पतंगों को मारते हुए नहीं देखा है, वैसे ही उस भिक्खु ने उन कीट-पतंगों को जीता हुआ नहीं देखा है... इन सबसे बढ़कर यह है कि वह भिक्खु अर्हत्त-पद प्राप्त है, और उसका इन कीट-पतंगों को मारने का कोई अभिप्राय नहीं है, उसमें मारने का तनिक भाव तक नहीं है, उसका मन साफ है, वह अकिंचन है ! प्रदीप्त है !! निर्दोष

है !!! उसके मन के द्वार खुले हैं, उज्ज्वल हैं, उसके प्रज्ञा-चक्षु से प्रस्फुटित रश्मि सब के प्रति करुणा की ठंड़ी बयार है।"

अर्हत्त तो वही होता है, जिसके भवचक्र का बंधन छूट गया है, जिसके प्रज्ञा-चक्षु खुल चुके हैं, जो मार्ग के अन्तिम सोपान पर आरूढ़ हो गया है। भिक्खु इसे अंगीकार करते हुए अपने मन में छुपी शंका का निवारण चाहते हुए बोले, "पूज्यवर ! थेर चक्खुपाल अर्हत्त की पदवी को प्राप्त कर गए, तो फिर अंधे क्यों हैं ?" प्रश्न कौतूहल भरा था, उसके पीछे छुपे अनंत गर्भ की गहरी खाईयां थीं, हर कोई जान नहीं सकता है—यह सब ! पहुंचे हुए 'पारगामी' ही इसका निवेड़ा (समाधान) कर सकते हैं। एक सामान्य सा प्रश्न है, परन्तु हम सब को घेरे रखता है, क्यों किसी स्वस्थ व हट्टे-कट्टे मां-बाप के विकल संतान हो जाती है ? और शिशु जन्मते ही क्या ऐसे कर्म कर देता है कि उसके शरीर में खोट पैदा हो जाता है या खोट के साथ पैदा होता है, या फिर अपने जीवन में ऐसे दुख भोगता है, जिनके कारक कारणों को उसने कभी उत्पन्न ही नहीं किया था। यही तो है—भवचक्र ! भगवान ने जिसे बार-बार दोहराया है कि कर्म के बीज को भून ड़ालो, जब तक कर्म का बीज रहेगा, तो वह उपयुक्त आसार मिलने पर, अवसर पाने पर, परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर उपजेगा, वह फलेगा, अपनी लता-द्रुम को बढ़ायेगा और बार-बार आने-जाने का चक्कर लगा रहेगा।

बौद्ध साहित्य में आता है कि चक्खुपाल अपने पिछले जन्म में भैषज्य था, वह एक अच्छा शल्य शास्त्री था, कईयों के रोगों का उसने निदान किया था, परम-आरोग्य प्राप्त इन रोगियों की असीम आशीष उसके पूर्व जन्म की फलवती थी, परन्तु उससे कई अनर्थ भी हुए। एक बार उसने एक औरत को जान-बूझकर अंधा बना दिया था, यही था, उसका फल कि उसके बाद कितने ही जन्मों में वह अन्धा होता रहा। कथा बड़ी विचित्र है— एक औरत इस विशेषज्ञ के पास आती है, जो आंखों की रोशनी गवां चुकी होती है और निवेदन करती है कि उसकी आंखों को ठीक कर दें। उसको पुनः दृष्टि मिल जाय, तो वह अपने बच्चों सहित उसकी नौकरानी बनकर रह लेगी। अपने पूर्व जन्म में यह भिक्खु सिद्धहस्त था। उसने उस औरत का इलाज किया। वह ठीक होने लगी, उसे दिखने लग गया। पूर्व जन्म के इस भिक्खु को भी यह ज्ञात हो गया। वह इस औरत के इलाज के दौरान कई बार उससे पूछता, परन्तु वह औरत इस भय से कि अगर उसने सच्चाई बता दी, तो उसको गुलामी की जिन्दगी बसर करनी पड़ेगी। अस्तु, वह हमेशा टालती रहती कि उसकी दृष्टि अभी तक ठीक नहीं हुई है, अपितु यह तो पहले से और अधिक खराब हो रही है, तकलीफदेह बन रही है।

भैषज्य इस वंचना को भांप चुका था। उसने जान-बूझकर एक ऐसा दूसरा मल्हम उस औरत की आंखों पर लगा दिया था कि उससे वह औरत पूरी तरह से अंधी हो गयी। कहते हैं अपनी इस पूर्व जन्म की 'करणी' (कर्म) से ही वह भैषज्य कई जन्मों में अंधा होता रहा और भगवान तथागत की शरण में आकर "विपश्यना-ध्यान" लगाकर अर्हत्त बना। यह कर्मों का फल है। पूर्व जन्म

में किए गए कर्म, जो विपाक नहीं बने थे उस जन्म में, परन्तु अगले जन्म में उपयुक्त कारणों के होने पर झट से उभर कर आ गए और अपना फन फैलाकर लपेट लिया जातक को। कारणों की यह श्रृंखला, कर्मों की यह गति अनवरत हमारे साथ रहती है, जैसे बीज में अंकुर का भाव सदा निहित रहता है। हमने चाहे पूर्वजन्म में कर्म किए हैं या इस जन्म में कर रहे हैं, यह हमारे बीज दायक रूप हैं।

महाकारुणिक भगवान ने इसे जगह-जगह पर समझाया—संदर्भ के साथ, हेतु के साथ, आलम्बन सहित, और आलम्बन रहित, उपमा और उपमेय से। विभिन्न अवसरों और विभिन्न लोगों के बीच उन्होंने इसे बोधगम्य बनाने का भरपूर प्रयास किया, ताकि जन्म-श्रृंखला में भटकता यह प्राणी सच्चे सुख की प्राप्ति कर सके। कर्म मात्र एक क्रिया नहीं हैं। बौद्ध धर्म में कर्म और आचार पर ही तो सबसे ज्यादा ध्यान दिया गया है। मानसिक कर्म या चेतसिक कर्म ही प्रधान माना गया है—बौद्ध धर्म में। इसी बात को ध्यान में रखते हुए धम्मपद की यह पहली गाथा कही गयी है—

1. मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा,
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं।। 1.1।।

अर्थ : *मन सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है, मन उनका प्रधान है, वे मन से ही उत्पन्न होती हैं। यदि कोई दूषित मन से वचन बोलता है या पाप कर्म करता है, तो दुख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कि चक्का (पहिया) गाड़ी खींचने वाले बैलों के पैरों का।*

शब्दार्थ : मनोपुब्बंगमा = अग्रगामी, मस्तिष्क (या विचार या मन) वाले। **धम्मा** = धर्म, गुण, देशना, परियत्ति। **मनोसेट्ठा** = अधिपत्ति प्रत्यय से मन श्रेष्ठ है। **मनोमया** = विचार या मस्तिष्क से प्रादुर्भूत मन से निष्पन्न। **चे** = यदि। **पदुट्ठेन मनसा** = बुरे विचार या मन से। **भासति** = बोलता है। **करोति** = करता है। **ततो** = तब। **नं** = उस व्यक्ति को। **दुक्खमन्वेति** = दुख पीछा करता है। **व** = जैसे। **वहतो** = वहन करने वाले के। **पदं** = पैरों को। **चक्कं** = पहिया।

(i) मन सभी धर्मों का पूर्वगामी है। भगवान बुद्ध ने 84,000 धर्मों का निरूपण किया है। जितने भी हमारे ज्ञान के संकाय हैं, उन सबमें मन पूर्वगामी है, अग्रदूत है। जो कुछ हम भुगतते हैं या जो भी फल या परिणाम प्राप्त करते हैं, वह मन का ही परिणाम है। अगर व्यापक रूप में कहें, तो हम कह सकते हैं कि हमारा फल हमारे विचारों पर निर्भर है। कोई भी फल या परिणाम हमारे विचार या मन पर निर्भर है, उसी से उद्भूत है। (ii) मन श्रेष्ठ है, मन ही सभी धर्मों का आश्रय और उद्भव है। यह मनोमय है। (iii-iv) दुष्ट मन से जो बोलता है या करता है अर्थात् बुरे विचार से कोई बोलता है या कोई काम करता है। (v-vi) तो दुख उस व्यक्ति का उसी तरह से अनुगमन करता है या पीछा करता है, जैसे गाड़ी खींचने वाले बैलों के पैरों का पीछा या अनुगमन चक्का (पहिया) करता है अर्थात् रथ को खींचने वाले या कर्म करने वाले व्यक्ति के पीछे-पीछे दुख बहता (चलता) रहता है।

इस गाथा में बौद्ध धर्म और दर्शन की इस बात को प्रबलित किया गया है कि चेतसिक कर्म सभी कर्मों में प्रधान हैं। साथ ही ज्ञान के सभी संकायों में मन ही प्रधान है। मन हमारी सभी प्रकार की भावनाओं-संवेगों और प्रवृत्तियों आदि का आधारभूत है। जब इस वस्तु जगत् से हमारे मन का सामना होता है, तो मन अपनी प्रतिक्रिया देता है और वह क्रिया में तब्दील होती हुई हमें दिखायी देती है। मन के अनुसार वह क्रिया घटित हो जाती है। उदाहरण के लिए एक जानवर माना कि एक कुत्ता है, हमने उसकी पूंछ को खींचा या मरोड़ा, तो तत्काल वह अपने मन में उत्पन्न स्वाभाविक वृत्ति के अनुरूप भौंकने लग जायगा या अगर वह पालतू कुत्ता है तो इसे अन्य अभिव्यक्ति से प्रकट करेगा, परन्तु वह हमारे अनुसार कार्य नहीं करेगा। वह अपने मन आश्रय प्राप्त, उद्भूत क्रिया को अंजाम देगा। उसके मन में पूर्व में हमारे ऐसे व्यवहार से जो कर्म की गठरी बंधी है, उसी के अनुरूप वह हमारे कृत्य को लेगा और व्यवहार करेगा।

बौद्ध धर्म में मन केवल भौतिक तत्वों का संघात ही नहीं है, जैसा कि कभी-कभी कुछ लोग कह देते हैं कि बौद्ध धर्म में भौतिकवाद को अधिभार दिया गया है और मन भी भौतिक शरीर के अन्य हिस्सों की तरह एक हिस्सा है एवं शरीर की समाप्ति के साथ ही इसकी भी समाप्ति हो जाती है। ऐसी बात बौद्ध धर्म में नहीं है। भगवान बुद्ध ने स्पष्ट बताया है कि जो भी जगत् में अस्तित्वमान है, मन उनमें अग्रदूत है। शरीर के भस्मीभूत हो जाने से अस्तित्व का खात्मा नहीं होता है, यह तो 'निर्वाण' का पद पाने से ही लभ्य है। जिस प्रकार एक नदी के पानी का प्रवाह है, वैसे ही मन का भी प्रवाह है। यह अनेक विचारों का प्रवाह है, पुराने विचारों की जगह नये विचार जगह लेते रहते हैं एवं प्रकट होते रहते हैं एवं प्रवाह बना रहता है। जैसे हमें नदी एकसी लगती है वैसे ही हमें मन भी **'एक'** होने का आभास मात्र देता है। वस्तुतः पंच स्कंधों में निरूपित वेदना, संज्ञा और संस्कार, जिन्हें धम्म भी कहा जाता है, उनमें यह प्रधान है और उनसे उद्भूत भी है। ये विज्ञान नामक चौथे स्कंध के साथ ही उत्पन्न होती है और निरुद्ध होती है। इन स्कंधों में विज्ञान प्रधान है, जो मन का प्राधान्य है। अस्तु, उसे चेतना या मनस भी कहा जाता है। मन, मनस या चेतना आदि विविध संज्ञायें मात्र हैं, परन्तु उनका निहितार्थ मन ही है। इसी चेतना या मनस द्वारा कुशल या अकुशल कर्म होते हैं, वे ही कर्म भवचक्र, मुक्ति या बंधन का कारक होते हैं।

चक्खुपाल थेर की अंधता उसके मन के अकुशल हेतु का फल थी, उसके मन का अभिप्रेत (Intention) ठीक नहीं था, उसने अपने पूर्व जन्म में उस औरत को मन की अकुशल भावना या बुरे अभिप्रेत से अंधा बना दिया था, अतः उसे जन्म-जन्मान्तर अंधता का शिकार होना पड़ा और इस अंधता के दुख ने उसका पीछा वैसे ही किया, जैसे बैलों के पैरों का पीछा गाड़ी के चक्के करते हैं।

इस गाथा में आए दुख शब्द पर भी संक्षिप्त दृष्टिपात करना उचित रहेगा। दुख शारीरिक या मानसिक आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है, इसे बौद्ध धर्म में निरूपित 'दुखता' से समझा जा सकता है। अतृप्ति, असंतोष, रोग, बिछोह, मृत्यु, बुढ़ापा आदि विविध रूपों में जो दुखता उभरती है, वही दुख है।

वग्ग 1, गाथा 2

मन ही प्रधान है

(मट्ठकुण्डली की कथा, स्थान—सावत्थि)

2. भगवान बुद्ध सावत्थि में थे, अपनी साधना में रत। अपनी इस **विपश्यना-साधना** में वे सर्वजगत के सहचर थे, सर्व-जगत् के ज्ञाता थे, दूर और नजदीक की प्रत्येक घटना का आभास उन्हें अनायास ही हो जाता था, इसीलिए वे सर्वज्ञ कहे गए। वस्तुओं और घटनाओं को यथाभूत जानने की इस अद्वितीय शक्ति ने उन्हें 'तथागत' बना दिया था। वे जगतदृष्टा थे। एक दिन वे अपनी ध्यान साधना से जल्दी निवृत्त हुए, उन्होंने अपनी विपश्यना-साधना में देखा कि **'मट्ठकुण्डली'** अपने घर के आगे बने बरामदे में सो रहा है। मुमुक्षु है, देह त्याग नजदीक है, अदिनपुब्बक (ऊदत्तपूर्वक) ब्राह्मण का जवान बेटा है। अदिनपुब्बक कृपण है, उसने कभी भी दान नहीं दिया, कभी भी अपने धन को शुभ कार्यों में नहीं लगाया। आज उसका पुत्र 'मट्ठकुण्डली' बीमार है, तब भी उसने किसी भैषज्ज (चिकित्सक) को नहीं दिखाया, न सलाह ली, बीमारी का निदान नहीं करवाया, क्योंकि उसे इन सब में धन की हानि होती दिख रही थी। अन्तिम समय में जब 'मट्ठकुण्डली' बहुत ही बीमार हो गया, काल कवलित होने लगा, अदिनपुब्बक ने अपने पुत्र को बाहर बरामदे में लाकर लिटा दिया। उसको डर था, कि लोग आयेंगे, घर में आयेंगे और उसके धन को देखेंगे, कुछ इधर-उधर करेंगे, उसको हानि होगी, इसीलिए उसने अपने पुत्र 'मट्ठकुण्डली' को बाहर बरामदे में सुला दिया।

भगवान बुद्ध ने अपने ज्ञान-प्रताप से यह सब नजारा देखा, उनके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं थी। सुबह हो चुकी थी, भिक्खु का दैनदिनी सदाचार प्रवृत्त हो चुका था, भोजन के समय भिक्खाटन करना उन्हें अभीष्ट था। भिक्खा के लिए चल पड़े। तथागत भगवान के लिए भी यही नियम था, अन्य भिक्खुओं के लिए भी यही नियम था। वे भी निकल पड़े, हाथ में भिक्खापात्र लिए, संघ के लिए भोजन दान पाने के लिए। सभी भिक्खु मंथर गति से चल रहे थे। भिक्खा के नियमों का पूर्ण पालन करना उनके लिए लाजिम था, फिर स्वयं भगवान ही क्यों न भिक्खा के लिए जायें। सदाचार के नियम सबके लिए एक से थे। भिक्खा के लिए प्रत्येक गृह जाते, रास्ते में आने वाले किसी घर को छोड़ते नहीं थे, और गृहस्थी या उपासक के घर के सामने जाकर खड़े हो जाते, आवाज नहीं लगाते थे। वे खड़े ही रहते और तब तक खड़े रहते, जब तक कि उस घर का कोई सदस्य उस भिक्खु को देख नहीं लेता। गृहस्थ भिक्खा लाता, भिक्खु निमिलित आंखों से उसे भिक्खापात्र में स्वीकार कर आगे बढ़ जाते। वे तब तक भिक्खाटन करते जब तक कि संघ के समस्त सदस्यों हेतु पर्याप्त भिक्खा प्राप्त नहीं होती। भिक्खा प्राप्ति के बाद वापस संघ में आते, विहार में आते और मिल-बांट कर उसको अंगीकार करते। ऐसे कई नियमों से प्रतिबद्ध भगवान भी पहुंच गए—'अदिनपुब्बक' के घर के सामने। वे उसके घर के दरवाजे के पास खड़े रहे। बुद्ध की कृपा ही कुछ ऐसी है, उनकी प्रभा ही निराली है, वे कितनों ही को दूर और नजदीक से पावन

करते रहे हैं। मट्ठकुण्डली बरामदे में लेटा था, तथागत के प्रभामण्डल की झलक उस तक पहुंच चुकी थी, वह कृतकृत्य हो गया। वह उनके चरणों में जाने को उतावला हो रहा था, परन्तु क्षीण-काय उसे साहस प्रदान नहीं कर रही थी। उसका शरीर वहीं बरामदे में था परन्तु उसका मन तथागत के समीप था। उसका मन पवित्र भावना में हिलोरे खाने लगा, वह तथागत बुद्ध को पूर्णतः समर्पित हो चुका था।

तथागत भिक्खाटन करके लौट चुके थे, मट्ठकुण्डली काल-कवलित हो चुका था। भगवान तथागत के दर्शन लाभ से उसका चित्त निर्मल हो चुका था। बौद्ध साहित्य में वर्णित है कि वह मरने के बाद तावतिंस लोक में पैदा हुआ और वहां से उसने अदिनपुब्बक को देखा। अदिनपुब्बक को खिन्न और रुदन करते देखा। ऐसा देख मट्ठकुण्डली ने अपने पिता को बताया कि उसका तावतिंस लोक में पुनर्जन्म हो गया है और आगे कहता है कि वह भगवान बुद्ध को अपने घर भोजन के लिए आमन्त्रित करे। अदिनपुब्बक का हाल कुछ अच्छा नहीं था, वह इस प्रश्न में उलझा हुआ था कि यह कैसे हो सकता है, उसको सपना तो नहीं आ रहा है, क्या यह प्रलाप मात्र है या सच्चाई। उसके घर में यह चर्चा जोर पकड़ने लगी। लोगों में कानाफूसी होने लगी। लोग कहने लगे यह कैसे हो सकता है ? इसने कभी भी दान नहीं दिया और न ही कभी भगवान की शिक्षाओं का आदर किया, पालन किया। मट्ठकुण्डली ने ऐसा क्या किया जो उसको तावतिंस लोक में पुनर्जन्म प्राप्त हुआ ?

महाकारुणिक ने इस विमोह का पर्दाफाश किया। 'मट्ठकुण्डली' तावतिंस लोक से प्रकट हुआ। उसके अलौकिक आभूषण-शृंगार से सभी हतप्रभ थे। उसने सभी को अपने पुनर्जन्म की बात बतायी, तब लोगों को बात समझ में आयी कि इस कृपण ब्राह्मण का यह पुत्र कैसे तावतिंस लोक में पैदा हुआ—मरते समय उसके चित्त में बुद्ध के प्रति अनुराग जो था। बुद्ध प्रकृति में स्थिर होने की अगाध इच्छा उसके कुशल मन में व्याप्त थी, मरते वक्त की यह भावना उससे अलग नहीं हुई। शारीरिक कर्म या वाणी का कर्म उसने किया या न किया, वह यहां पर इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उसका मानसिक चिंतन, जो शुद्ध, बुद्ध और निर्लिप्त था, कुशल था, पुण्यदायी था और तभी तो कहा गया है कि विचार ही तो है, जो सभी धर्मों के अग्रगामी है, अग्रदूत है। सभी धर्म चाहे वे अच्छे हों या बुरे-विचारों पर ही तो आश्रित हैं। ये मनोमय हैं। यह पवित्र मन ही है, जो हमें फल देता है। अगर कोई प्रसन्न मन से, पवित्र मन से, कुशल विचार से बोलता है या कार्य करता है, तो सुख उसका कभी भी साथ नहीं छोड़ता है, जैसे छाया कभी भी हमारा साथ नहीं छोड़ती है। वह हमारे साथ रहती है, परन्तु कभी भी हमको कष्ट नहीं देती है, इसी प्रकार अच्छे मन से किया गया कार्य सदैव हमारे साथ रहता है और सुखकर होता है।

बौद्ध धर्म में मन को पवित्र करने का या बनाने का बहुत महत्त्व है। प्रिय के प्रति आकर्षण और अप्रिय से मुंह मोड़ना, हमारे दुष्ट मन व प्रसन्न मन की अभिव्यक्ति ही तो है। हम अपने मन को अनुशासित रख कर सुख प्राप्त कर सकते हैं एवं उच्छृंखल मन से दुख प्राप्त कर सकते हैं,

इसलिये बौद्ध धर्म में मन के नियन्त्रण या संयम पर बहुत जोर दिया गया है। भगवान बुद्ध की दृष्टि में या यों कहें बौद्ध धर्म के अनुसार सामाजिक बुराईयां भी हमारे मन की नापाक अभिवृत्तियां हैं। ये सभी सदाचार या शील के द्वारा विजित की जा सकती हैं। इसलिये बौद्ध धर्म में 'शील' पर या सदाचार पर अत्यधिक जोर दिया गया है। बुद्ध का शासन ही शील का शासन है या यों कहें सदाचार का जीवन ही एक बुद्ध अनुयायी का जीवन है, वह व्यक्ति तथागत को अपना आराध्य मानता है या नहीं मानता, इस बात का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि सत्य सदैव सत्य होता है। ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

2. मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति छाया व अनपायिनी ।। 1.2 ।।

अर्थ : मन सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है, मन उनका प्रधान है, वे मन से ही उत्पन्न होती हैं। यदि कोई प्रसन्न (स्वच्छ) मन से वचन बोलता है या काम करता है, तो सुख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कि कभी साथ नहीं छोड़ने वाली छाया।

शब्दार्थ : पसन्नेन मनसा = पवित्र मन से। **छाया व अनपायिनी** = दुख न पहुंचाने वाली छाया के समान।

वग्ग 1, गाथा 3,4

वैर के शान्त होने का उपाय

(थुल्लतिस्स स्थविर की कथा, स्थान—जेतवन)

3. 4. तथागत सावत्थि में थे। **थुल्लतिस्स** थेर की उपस्थिति थी। थुल्लतिस्स वृद्धावस्था में प्रव्रजित होकर जेतवन महाविहार में विहरते थे। वे अपने से बड़े भिक्खुओं का आदर सत्कार नहीं करते थे। एक बार आयुष्मान तिस्स सभा भवन में बैठे थे। उस समय तथागत के दर्शनार्थ कुछ आगंतुक भिक्खु वहां आए, उन्होंने चुल्ल (स्थूल देहवाले) तिस्स को महास्थविर समझ उसकी सेवा की, कोई पैर दबाता, कोई सेवा कार्य पूछता, परन्तु थुल्लतिस्स चुप बैठे रहे। एक युवा भिक्खु ने पूछा, "भंते ! आप कितने वर्ष के हैं ?" थुल्लतिस्स का उत्तर था— "हम वर्ष तो नहीं जानते, क्योंकि वृद्धावस्था में भिक्खु हुए हैं।" आगंतुक भिक्खु समझ चुके थे, जान चुके थे कि यह भिक्खु दुर्विनीत है, संघ की मर्यादा भी नहीं जानता है, अस्तु; उसे फटकारने लगे, डांटने लगे। थुल्लतिस्स का क्षत्रिय गौरव जाग पड़ा, जाति-अभिमान फूट पड़ा, तथागत से जुड़ा रक्त संबंध दौड़ने लगा, आखिर वह तथागत की बुआ का बेटा था।

वह बोला, "तुम कहां से आए हो ? आगंतुकों का उत्तर था, "शास्ता के यहां से।" यह सुनकर थुल्लतिस्स अभिमान से बोला— "तुम लोगों को अभी समझ में आ जायेगा कि मैं कौन हूं। मैं तुमको मूल से ही उखाड़ फेंकूंगा।" ऐसा कहते हुए वह उठकर रोते हुए भगवान के पास गए। भगवान ने उनसे सब जानकारी प्राप्त कर कहा, "उसने मुझे डांटा, उसने मुझे मारा, उसने मुझे

जीत लिया, उसने मेरा लूट लिया—जो ऐसा मन में ऐसा भाव बनाये रखते हैं, उनका वैर कभी शान्त नहीं होता है।" मन की ऐसी भावना को, मन का कुशल पक्ष नहीं कहा जा सकता है। ऐसे में प्रतिशोध की तीव्र भावना व्याप्त होती है और प्रतिशोध से शत्रुता कभी शान्त नहीं हो सकती है। ऐसी भावना का आश्रयभूत मन अशान्त चित्त होता है, वह घृणा को पैदा करता है और यह घृणा जन्म-जन्मान्तर से मानव स्वभाव के अज्ञानावरण का खुलकर बयान करती है। अंगुलिमाल भिक्खु बन गया था, परन्तु जब लोगों को पता लगा कि यह श्रमण वही व्यक्ति है, जिसके अत्याचार की कहानी हर एक की जुबान पर थी, तब सावत्थि के लोगों ले उसे डंडों से मारा, कंकरों से मारा, उसे रक्त रंजित कर दिया। वह तो वंदनीय बन चुका था, परन्तु लोगों के मन में घृणा की ज्वाला धधक रही थी, वह उसे देखते ही प्रज्ज्वलित हो उठी। लोगों की पुकार थी कि इसने मेरे पुत्र को मारा। किसी का क्रंदन था—इसने मेरा सब कुछ लूट लिया। ऐसे सावत्थिवासियों के मन की घृणा शान्त होने का नाम नहीं ले रही थी, क्योंकि उन्होंने अपने मन में वैर का बीज बो रखा था।

यह वैर का बीज आज का नहीं है, सदियों से चला आ रहा है और आज हमारे ऐतिहासिक स्वरूप में सामाजिक और सांस्कृतिक शिक्षण का आश्रयभूत बन चुका है, तभी एक समाज दूसरे समाज से घृणा करता है, प्रतिशोध लेना चाहता है। ऐसे समाज कभी विश्रान्ति नहीं प्राप्त कर सकते हैं, वैर से वैर ही पैदा होता है। मारने वाले को कोई दूसरा मारने वाला मिल ही जाता है। वैर या घृणा की इस कैद में घिरे व्यक्ति की या समाज की शत्रुता या प्रतिशोध कभी शान्त नहीं हो सकता है।

उसने मुझे गाली दी थी, उसने मुझे मारा था, उसने मुझे पराजित किया था, उसने मुझे लूटा था— जो मन में ऐसा नहीं बनाये रखते हैं, उनका वैर शान्त हो जाता है। अर्थात् इस प्रकार की भावनाओं का, जो प्रतिशोध पैदा करती हैं, वैर पैदा करती हैं या घृणा पैदा करती हैं, उनको जो आश्रय नहीं देते हैं उनकी शत्रुता शान्त हो जाती है। वैर अपना दूसरा पक्ष-अवैर के रूप में प्रस्फुटित हो जाता हैं और दोनों पक्ष एक ही होकर रह जाते हैं। महान सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध में खूब खून-खराबा किया, कइयों को मारा, कलिंग पराजित हो गया। घृणा की आग कलिंगवासियों के हृदय में धधक रही थी, परन्तु ज्योंही सम्राट अशोक को धम्म के प्रकाश की एक हल्की सी किरण ने झकझोरा, वह झुक गया। उधर कलिंगवासियों के हृदय में दहकते प्रतिशोध का शूल भी तभी शान्त हुआ, जब उन्होंने अपने हृदयतल से इस प्रतिशोध की मलिनता को दूर कर दिया—बहुत उन्नति की कलिंग ने ! बड़े सदाचारी बने—कलिंगवासी।

सावत्थिवासियों के प्रतिशोध की आग तब बुझ गयी, जब **अंगुलिमाल,** जो पहले उन्हें आततायी लगता था, हत्यारा लगता था, लुटेरा लगता था, वही अब उनका मार्गदाता मान लिया गया। भगवान के वचनामृत से सावत्थिवासियों के विलाप को जहां शान्ति मिली, वहीं अंगुलिमाल अर्हत पद तक पहुंचा। प्रतिशोध की भावना या वैर का बीज एक आस्रव है, आसव है, इससे मुक्त हुए पथिक के लिए सब अपने हैं, "न काहू से दोस्ती न काहू से वैर" ऐसी भावना वाले मन के स्वामी

की शत्रुता के भाव शान्त ही रहते हैं, उसमें शत्रुता का भाव, वैर का भाव या घृणा का बीज उत्पन्न हो ही नहीं सकता है। सुकरात की पत्नी कुंठित हृदया थी, अज्ञानी थी, आसवों की आग में दहकती थी, सुकरात के शिष्यों के सामने, मित्रों के बीच में कीचड़ उछालती है, सुकरात सहन करता है, उसकी गाली भी सुकरात को सद्वचन लगती है, क्योंकि प्रतिशोध को पैदा करने वाले बीज का वमन कर चुका है— सुकरात ! तथागत की इस गाथा का यही अर्थ है। ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

3. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति ।। 1.3।।

अर्थ : उसने मुझे डांटा, उसने मुझे मारा, उसने मुझे जीत लिया, उसने मुझको लूट लिया—जो ऐसा मन में बनाये रखते हैं, उनका वैर शान्त नहीं होता।

4. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति।। 1.4।।

अर्थ : उसने मुझे डांटा, उसने मुझे मारा, उसने मुझे जीत लिया, उसने मुझको लूट लिया—जो ऐसा मन में नहीं बनाये रखते हैं, उनका वैर शान्त हो जाता है।

शब्दार्थ : अक्कोच्छि = गाली दी क्र धातु से न कि क्रुध् से। **मं** = मुझको। **अवधि** = पीटा। **अजिनि** = पराजित किया। **अहासि** = लूट-पाट की। **मे** = मेरी। **येच तं उपनय्हन्ति** = वे, जो (प्रतिशोध की भावना को) आश्रय देते हैं (नह-बन्धने धातु से)। **तेसं** = उनकी। **वेरं** =शत्रुता। **न सम्मति** =शान्त नहीं होती। **तेसू**=उनमें। **उपसम्मति** = शान्त हो जाता है।

वग्ग 1, गाथा 5

वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता

(काली यक्षिणी की कथा, स्थान जेतवन)

5. भगवान तथागत तब सावत्थि में थे, जेतवनाराम विहार में विराजमान थे। बहुत से श्रमण, उपासक, भिक्खु और गृहस्थ उनके प्रवचनों को दूर-दूर से सुनने के लिए आया करते थे। सावत्थि का वह गौरव भव्य है, उसकी महक चारों दिशाओं में फैल रही थी, हर एक नागरिक अपने आपको धन्य समझता था। सम्यकसम्बुद्ध के प्रवचन-रूपी अमृत की बौछार से उनके आसव रूपी मल धुल रहे थे, सभी अपने भव-बन्धनों को तोड़ना चाहते थे, अगर टूटे नहीं तो ढ़ीला अवश्य करना चाहते थे, ताकि अगली बार जब वे जन्म लें तो इस भव-सागर को पार कर जायं।

धर्म सनातन है, सदियों से चला आ रहा है। तथागत बुद्ध तो उस सनातन धर्म के धर्मचक्र को प्रवर्तित करने वाले अट्ठाईसवें बोधिसत्त्व हैं। उनसे पहले भी बुद्ध हुए, आगे भी बुद्ध होंगे, तब तक बुद्ध होते रहेंगे, जब तक कि इस धरा का एक भी प्राणी बोधिसत्त्व लाभ से वंचित रहेगा। आखिर हर प्राणी के लिए निर्वाण प्राप्त करना ही एकाकार है। जब तक एक भी प्राणी अविद्या से

बना रहेगा, बोधिसत्त्व की आवश्यकता बनी रहेगी। परन्तु बुद्ध अवतार नहीं लेते हैं, बोधि प्राप्त होती है— उन्हें। बोधिसत्त्व उस ओर अग्रसर होने की अवस्था भर है। अनात्म-स्वरूप का एकाकार, प्रतीत्यसमुत्पाद का अभिज्ञान, आर्य सत्यों की परख आदि ही तो वे सब हैं, जो मनुष्य में सोये हुए बुद्ध-प्रकृति के बीज को जाग्रत करते हैं, उसके अन्तर्मन की वीणा को झनकार देते हैं। वहां करुणा का राज है, वैर का स्थान नहीं। वैर की भावना में व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता है और हम सभी सुख की चाह में इधर-उधर डोल रहे हैं। तथागत ने कहा, "सुख तुम्हारे अन्दर है, उसे प्राप्त करो वह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे तुम बाहर खोज लो। मनुष्य जन्मजात मनुष्य है, वह मरते दम तक मनुष्य ही होता है। हम सब में एक-सी रचना है, एक सा कंकाल है, हड्डिया हैं, मांस है, हम में से कोई नहीं चाहता है कि वह दुखता का भागी बने। हम सभी मानव समाज के अंग हैं, हमें अपने सबके अन्दर उस ऐक्य की अनुभूति होनी चाहिये, अहसास होना चाहिये। जब हम सभी सुखी रहना चाहते हैं, तो फिर क्या दूसरा सुखी नहीं रहना चाहता है ? क्या उसको सुखी रहने का अधिकार नहीं है ? सब बराबर के दावेदार हैं, फिर दुश्मनी कैसी, शत्रुता किससे ? हम अपने क्रोध की ज्वाला को मिटायें, वैर के बीज को जलायें, नहीं तो वह हमारे कितने ही जन्मों को बिगाड़ कर रख देगा। दुनिया में किसी ने भी वैर से समस्याओं का समाधान नहीं किया है, क्रोध की ज्वाला से किसी ने सम्पन्नता हासिल नहीं की है।" बौद्ध धर्म इसकी जीती-जागती मिसाल है। प्रेम और करुणा की नाव में सारा विश्व अपने को एक मानता है। हमें दया और अवैर ही मानवीय मूल्यों की पराकाष्ठा तक ले जा सकते हैं। वैर के विष से बिद्ध तीर घातक हैं— अपने लिए ! हमारे लिए ! हमारे पड़ोसी के लिए और समस्त विश्व के लिए!

बौद्ध साहित्य में कथा आती है कि किसी समय एक गृहस्थ था, उसकी पत्नी के कोई सन्तान नहीं हुई थी। पत्नी के बांझपन के कारण बाद में उसने दूसरा विवाह कर लिया। अब उसके दो पत्नियां हो गयीं। दोनों में बनती नहीं थी, वे एक दूसरी से जलती थीं, उनमें डाह थी। पहली औरत दूसरी औरत के गर्भपात का कारण बन गयी। बस क्या था, उन दोनों में एक लम्बे झगड़े की बुनियाद पड़ गयी, वे एक दूसरे की वैरी हो गईं। मरणोपरान्त वे अगले जन्म में मुर्गी और बिल्ली की योनि में जन्मीं व उस योनि के पूरी होने पर पुनः वे हिरण और तेन्दुएं के रूप में पैदा हुईं। उनका वैर जन्म-जन्मान्तर चलता रहा। पुनः उनमें से एक ने सावत्थि के एक प्रतिष्ठित परिवार में जन्म लिया और दूसरी का यक्षिणी 'कालि', जिसे कालयक्खिनी के नाम से भी वर्णित किया गया है, के रूप में पैदा हुई। पहली के बच्चा हुआ, दूसरी गुस्से से उसके पीछे पड़ गयी। उसे मालूम हुआ—सम्यकसम्बुद्ध ज्ञानी हैं, ध्यानी हैं, पारमिता पार अन्तर्यामी हैं, वे निकट ही जेतवन विहार में धर्म प्रविचय कर रहे हैं। वह उनकी शरणागत बनना चाहती थी, अपने बच्चे की रक्षा चाहती थी। वह दौड़ी-दौड़ी जेतवन विहार गयी, प्रविष्ट हुई और भगवान के सामने अपने पुत्र को रख दिया। कालि भी उसके पीछे भागते-भागते जेतवन पहुंची, उसे प्रवेश मिला नहीं, द्वारपाल ने उसे रोक लिया।

तथागत सब कुछ जान चुके थे। वे उनके वैर की अग्नि को शान्त करना चाहते थे। शीतिभूत

सम्यकसम्बुद्ध ने काली को भी अन्दर बुलाया। दोनों को उनके पूर्व से चले आ रहे लम्बे कलह का भेद बताया। उनके जन्म-जन्मान्तर की, बीते भव-सागर की यात्रा को उनके सामने रखा। वे कैसे एक दूसरी की वैरी बन गयीं, उनमें व्याप्त वैर के उस आसव को, घृणा के उस मूल को उधेड़ कर उनके सामने रख दिया, उन दोनों के लिए अब कुछ भी शेष नहीं रह गया था। **'अलख-निरंजन'** ने, जिन्होंने निरंजना नदी के तट पर घोर तपस्या की थी, जिनको कोई लख नहीं सका, जान नहीं सका, उस सम्यकसम्बुद्ध ने आज युगों-युगों से उनके बीच चलते वैर की फांस को काट दिया। उन्होंने उपदेश दिया, "वैर किस तरह से वैर ही पैदा करता है और पीछा नहीं छोड़ता है, जन्म-जन्मान्तर उसकी कड़ियां जुड़ती जाती हैं, उसे विजित करो—दोस्ती से ! समझ से ! आपसी भाई-चारे से ! मैत्री भावना से ! घृणा का बीज पनपेगा नहीं, वैर का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा। मैत्री विहार का आलोक स्पन्दित होगा—सदियों से यही परंपरा रही है, यही धर्म रहा है।" भगवान ने यह गाथा कही—

5. न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो।। 1.5 ।।

अर्थ : इस संसार में वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते, अ-वैर (मैत्री) से ही शान्त होते हैं—यही संसार का सनातन का नियम है।

शब्दार्थ : सम्मन्तीध = यहां शान्त होते हैं। **कुदाचनं** = कभी। **एस** = यह। **सनन्तनो** = सनातन या शाश्वत।

वग्ग 1, गाथा 6

किसके कलह शान्त होते हैं ?

(कोसम्बी के भिक्खुओं की कथा, स्थान—जेतवन)

6. सावत्थि ने भगवान के धम्म का हर रंग देखा है, उसने धम्म के आभरण की हर छटा में अपनी साक्षी निभायी है। भगवान के बताये मार्ग पर चलने वालों की दिनों-दिन बढ़ती हुई संख्या को उस सावत्थि के जेतवन विहार ने 'साक्षी' भाव से निहारा था। वह परिपूर्ण था—भिक्खुओं से, उपासकों से। उसकी हर गली और कुंचे से बुद्ध-वाणी गूंज रही थी। भिक्खु बढ़ते गए, संघ की मर्यादा निर्धारित होती रही, समय-समय पर उठने वाली शंका और संदेह का निवारण प्राप्त करके भिक्खु अपना मार्ग प्रशस्त करने लग गए थे। विनय के नियम निर्धारित हो रहे थे, हो चुके थे। भगवान के प्रवचनों में उनका विवेचन था और विवेचनों में नियम छुपे हुए थे। जिसे बाद में लिपिबद्ध करके **विनय पिटक** और **सुत्त पिटक** में सुरक्षित कर लिया गया, परन्तु भगवान की उपस्थिति में यह सब नहीं हुआ था। शास्ता स्वयं उपस्थित रहते थे, किसी भी मसले के निराकरण के लिए, मार्गदर्शन के लिए और उनकी अनुपस्थिति में ये प्रवचन या विनय ही भिक्खुओं के लिए प्रमाण थे— किसी भी मुद्दे को तय करने के लिए।

एक बार कोसम्बी के घोषिताराम विहार में **विनयधर** और **धर्म कथिक** भिक्खुओं में मतभेद उभर

आया। उनमें धड़ेबाजी हो गयी, संघ खेमों में बंट गया। एक पक्ष का तर्क था— भगवान का विनय शासन ही सर्वोपरि है, दूसरे का मत था, प्रवचन ही निर्धारक है— किसी भी बड़े मुद्दे के निवारण हेतु। दोनों एक दूसरे पक्ष को नहीं समझ रहे थे व आपसी विचार-विमर्श में यदा-कदा ऐसी बातों में उलझ जाते और उलझ गए। तथागत ने उन्हें ऐसी बातों पर कलह नहीं करने को कहा, परंतु दोनों पक्ष उलझे रहे। तथागत ने इस समय और कुछ कहना उचित नहीं समझा। वर्षावास था, तथागत उन भिक्खुओं को छोड़कर चले गए। **पालिलय्येका** का उपवन उनका इन्तजार कर रहा था, **रक्खितखगत** गुम्फ में तथागत ने वर्षावास बिताना उचित समझा। वहां का गजराज पालिलय्येका बुद्ध की प्रतीक्षा में था। तथागत उसके वन में चले गए, ध्यान मग्न हो गए। नागराज (हाथी) ने वहां तथागत की हर तरह से सेवा की।

उपासकों को मालूम हुआ, गृहस्थों को ज्ञात हुआ, तथागत भिक्खुओं को छोड़कर चले गए हैं, तो उन्होंने भिक्खुओं को भिक्खा देने से मुंह मोड़ना शुरु कर दिया। भिक्खु बेहाल होने लगे, उनका गौरव गिरने लगा। वे मर्यादा पद से वंचित किए जा रहे थे, उपासकों के द्वारा। गृहस्थों के द्वारा। उनको अपनी गलती का अहसास होने लगा। महसूस किया, आपसी समझ पैदा हुई, पछताने लगे। परन्तु अब क्या हो सकता था, तथागत तो जा चुके थे, वर्षावास चल रहा था। आपस में सलाह मशविरा हुआ, गलती का अहसास हुआ, तथागत के चरणों में निवेदन करने के अलावा कोई चारा उन्हें दिखाई नहीं दिया। जाना चाहते थे, तथागत के पास। बुलाना चाहते थे, तथागत को। पर 'वर्षावास' को व्यतीत करना पड़ा। उनकी बड़ी दुर्दशा हुई, जैसे-तैसे वर्षावास बीता।

भिक्खु चल पड़े, तथागत के पास, अपनी भूल की माफी मांगने के लिये। तथागत महाकारुणिक हैं, क्षमाशील हैं, दया के सागर हैं। भिक्खुओं ने अपने अन्तस मन में उपजे आसव की जड़ को जान लिया, पहचान लिया, उसे बाहर निकाल फेंका, तथागत से निवेदन करने गए। सभी गए, दोनों पक्ष गए। भिक्खु आनन्द के साथ 500 भिक्खु तथागत के पास पहुंच चुके थे, उन्होंने नमन किया, वन्दना की, महाकारुणिक के चरणों में गिर पड़े। तथागत निश्छल हृदय हैं, सभी के लिए उनके दिल में अपार प्रेम और करुणा की बयार सदा बहती है। उस दिन भी बही। भिक्खु प्रायश्चित करके शुद्ध हो चुके थे, भगवान ने उन्हें मार्ग पर चलने की याद दिलायी, अभ्यास करने की स्मृति जगायी। वे बोल उठे, "भिक्खुओ! एक न एक दिन हम सबको मृत्यु का ग्रास बनना है, मरना है, ये झगड़े-फसाद, कलह, सब व्यर्थ हैं। हमें कलह नहीं करनी चाहिये, कभी भी यह नहीं सोचना चाहिये कि हम अमर रहेंगे, कभी भी मरेंगे नहीं। सोचना है तो सोचो मुक्ति की, उस अमृतपद को प्राप्त करो, जो असीम शान्ति देगा। निर्वाण देगा। उसी पर चलो, उसी पर अपने ज्ञान-चक्षु दौड़ाओ, ध्यान लगाओ। अरे! आप लोग तो मुमुक्षु हो, ज्ञानी हो, ज्ञान के मार्ग पर चल रहे हो, जानते हो, जान रहे हो कि प्रतिक्षण हम नष्ट हो रहे हैं, मर रहे हैं। दूसरों की बात छोड़ो, जो नहीं जानते हैं कि वे मृत्य हैं। अपनी जानो, अपने मार्ग की जानो, अगर तुम यह जान लोगे तो आपके सारे दोष खत्म हो जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही, वे बोल उठे—

6. परे च न विजानन्ति, मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति, ततो सम्मन्ति मेधगा।। 1.6।।

अर्थ : *अनाड़ी लोग इस बात का ख्याल नहीं करते कि वे इस संसार में नहीं रहेंगे, जो इसका ख्याल करते हैं, उनके सारे कलह शान्त हो जाते हैं।*

शब्दार्थ : परे = अन्य। **न विजानन्ति** = नहीं जानते हैं। **मय** = हम। **एत्थ** = यहां। **यमामसे** = नष्ट हो रहे हैं अर्थात् जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं। **तत्थ** = तथ्य या वास्तविकता। **मेधगा** = दोष या कलह।

वग्ग 1, गाथा 7-8

मार किसे नहीं डिगा सकता ?

(चूलकाल महाकाल की कथा, स्थान—सावत्थि)

7. 8. भगवान बुद्ध की अमृतवाणी चारों ओर गूंज रही थी, लोग उनका दर्शन पाने को आतुर थे, उनके शब्दों का अमृतपान करके वे अपने को धन्य मानते थे, धन्य हो गए। जहां भी भगवान विराजते, उधर से गुजरने वाला हर यात्री तथागत के दर्शन-लाभ और अमृतवाणी-श्रवण का लोभ-संवरण नहीं कर पाता था, इससे भी इनको संतोष नहीं होता तो उनका मन प्रवृत्त हो जाता कि भगवान के धर्म को जानें, मर्म को जानें। वे न्यौछावर थे, कायल थे— भगवान के धम्मपथ के। तथागत के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए लोग उतावले थे। कई लोगों ने भगवान का दायित्व स्वीकार किया। व्यापारी **तपस्सु** और **भल्लिक** भगवान के प्रथम उपासक थे ही, उसके बाद यह जो शुरुआत हुई देश के हर कोने, हर ग्राम और नगर में बुद्ध पूजनीय बनने लगे, बन गए।

कई तपस्वी भी थे, साधु भी थे, अग्निहोत्री भी थे, सभी इस पथ की ओर मुड़े, चल पड़े। उरुवेला का कस्सप चला, महाकस्सप दौड़ा, सभी दौड़ पड़े। कारवां बढ़ने लगा, बढ़ता गया। **धम्मचक्क** प्रवर्तन का जो चक्र सारनाथ से गतिमान हुआ था, वह अनवरत चल रहा था। ज्ञानी भी जुड़े तो अज्ञानी भी मुड़े—सभी सम्यकसम्बुद्ध की शरण में जाना चाहते थे। कुछ लोग ज्ञान से आए, कुछ विवेक से आए, कुछ भावना में बहकर आए तो कुछ प्रछन्न रूप से जुड़े, कुछ छद्म वेष में आए, कुछ अपने भावों को, अपनी भावनाओं को छुपाकर आए, पार पाने को आए, पार जाने को आये। सावत्थि के नजदीक से आए, दूर से आए, सावत्थि ने उनको गौरवान्वित किया। **चुल्लकाल** भी आया, **महाकाल** भी आया। दोनों भाई थे, व्यापारी थे, गृहस्थ थे, उनका घर-बार था। सब कुछ छोड़कर आये। थाह पाना चाहते थे—आत्म की, धम्म की, ज्ञान की, ध्यान की।

विचित्र प्रसंग था, व्यापार के लिए घूम रहे थे। घूमते-घूमते तथागत के वचनामृत की बूंदें उन्होंने चख लीं, स्वाद अच्छा लगा, वे उधर मुड़ गए, भिक्खु बन गए। महाकाल के अन्दर की पीड़ा गहरी थी, वह निज को जानना चाहता था, जगत् को जानना चाहता था, निर्वाण का आकांक्षी था। भगवान से निवेदन किया, भिक्खुसंघ का आसरा मिले, तथागत का मार्गदर्शन मिले, उसे अपने

संघ में अंगीकार कर, स्वीकार करें। तथागत की कृपा-दृष्टि थी, अनुकम्पा थी, उसे उपसम्पदा मिली, दीक्षा मिली। वह भिक्खु बन गया। उसका दूसरा भाई भी भाव-विह्वल था, अपने को रोक नहीं पा रहा था, सोच रहा था, भ्राता ठीक नहीं कह रहे हैं, अच्छा नहीं कर रहे हैं। मार्ग अनुपम है, वन्दनीय है, पर घर सुन्दर है, परिवार का बन्धन उत्तम है। भाई भिक्खु बन जायेगा, बन गया। अब वह क्या करेगा, किसके साथ रहेगा ? वह भी भिक्खु बन जायेगा, भाई को वापस खींच लायेगा, भिक्खु बना हुआ नहीं रहने देगा। यह सब वह भिक्खु बन कर ही कर सकेगा, उसे भिक्खु बन जाना चाहिये, विचारों का प्रवाह तेज था, भावना तीव्र थी, वह भी तथागत की शरण में चला गया। दोनों ने चीवर धारण कर लिये। एक प्रतिबद्ध था, दूसरा मोहबद्ध था।

समय बीतता गया। महाकाल प्रतिबद्ध था, ध्यान लगाता, धूतांग की पालना करता। आसपास का विश्लेषण करता हुआ धर्मों की उत्पत्ति और व्यय को जान चुका था। विनाश और अनित्यता का साक्षात्कार कर लिया। कई रातें मशान (श्मसान) में गुजारीं, मृत देह के दर्शन किए, इस लोक को देखा, इस लोक के पार देखा। दूसरा भी लगा था, ध्यान साधना में रत था, चीवर पहन रखा था, काषाय वस्त्र से आच्छादित था, पर मन कुरेदता था, मोह की जकड़न ढीली नहीं कर पा रहा था। फिर भी संघ के साथ था, संघ के नियमों से आबद्ध था। उनका ग्राम छूट गया, घर छूट गया, परिवार छूट गया, पत्नी छूट गयी, वे सब दूर हो गए, जो उसके नजदीक थे, प्रिय थे।

भगवान चारिका करते हैं, भिक्खु भी जाते हैं, सभी मार्ग के राही हैं, तथागत के अनुयायी हैं, अनुगामी हैं। चारिका से निवृत्ति चाहते हैं। सिंसपा वन रम्य है, उपयुक्त है, वहीं रुकते हैं, ठहरते हैं, ठहर जाते हैं। यह जगह चुल्लकाल के ग्राम के नजदीक की है, उसे प्रिय लगती है, यादें ताजी हो जाती हैं। तथागत के प्रवचन होते हैं, लोग आते हैं, राही सुनते हैं। ग्रामवासी आमन्त्रित करते हैं, भोजन दान करते हैं। भगवान का भिक्खुसंघ पुण्यानुमोदन करता है। चुल्लकाल की पत्नी भी श्रोता है, प्रवचन सुनती है, श्रवण करती है, तथागत को भोजन पर आमन्त्रित करती है, भिक्खुसंघ को आमन्त्रित करती है। तथागत जाते हैं, भिक्खुसंघ जाता है, आवभगत होती है, भोजन से निवृत्त होते हैं।

गृहस्थी भोजन-दान करता है, वह उसकी कमाई का फल होता है, उसका दान परोपकारी है, पुण्यदायी है। भिक्खु उसे ग्रहण करता है, पर उसे चुकाना पड़ता है— इसका मूल्य। देना पड़ता है—प्रतिदान। यह जरूरी है, लाजिम है, संघ का नियम है, मर्यादा है। भोजनोपरान्त चुल्लकाल पर यह जिम्मेवारी आती है। बाकी सभी चले जाते हैं, चुल्लकाल रुक जाता है, वह पुनः मोहपाश में बंध जाता है, चीवर को उतार देता है, भिक्खुसंघ को लौटा देता है। संघ के लिए यह कोई अपराध नहीं है, उचित कारण होने पर, न चाहने पर, कुशल वृत्तियों को उत्पन्न करने में असफल रहने पर वह जा सकता है, वह स्वतन्त्र है, स्वाधीन है, खुद के ऊपर निर्भर करता है, परन्तु जाने से पहले संघ की संपत्ति संघ को लौटानी पड़ती है। चुल्लकाल का मन संघ में रमा नहीं, वापस गृहस्थ बन गया। संघ को जानकारी हुई, ज्ञापन हुआ।

दूसरा दिन अपनी स्वर्णिम आभा के साथ खिलता है। भगवान का विहार यहीं है, भिक्खु यहीं हैं। प्रवचन होते हैं, जनता आती है, महाकाल की पत्नी भी आती है। धम्मश्रवण का समय खत्म हो जाता है। वह खड़ी रह जाती है, निवेदन करती है—सम्मासम्बुद्ध से, तथागत से, भिक्खुसंघ से। उसके घर को भी पवित्र कर दें, उसके घर का भोजन ग्रहण करने की तथागत अनुकम्पा कर लें, भिक्खुसंघ को अनुमति दे दें। वह धन्य हो जाए, उसका जीवन सफल हो जाए। भगवान चल देते हैं—भिक्खुसंघ के साथ, महाकाल के साथ, उस ओर जहां कभी महाकाल का निवास था, वास था, व्यापार था।

भोजन से निवृत्त होते हैं, गृहस्वामिनी निवेदन करती है— पुण्यानुमोदन का, कुशल धर्मों के परिचय का। वह सोचती है, जैसा चुल्लकाल की पत्नी ने किया है, मैं भी वैसा ही करूंगी, अपने घर आए अपने स्वामी को वापस जाने न दूंगी। यह मौका हाथ से नहीं गवाऊंगी। वह विनीत है, भगवान की स्वीकृति मिल जाती है। पुण्यानुमोदन का भार महाकाल पर आ जाता है। वह रुक जाता है, भिक्खुसंघ चल देता है, तथागत चारिका करते हैं, आगे-आगे चलते हैं, भिक्खुसंघ पीछे-पीछे है।

भिक्खुओं में कानाफूसी होती है, बात होती है, वे बोलते हैं, शंका करते हैं, डरते हैं, विक्षोभ करते हैं। कल ही की तो बात है, चुल्लकाल उनका सहचर था, आज नहीं है। यह सब हुआ उनकी आंखों के सामने, प्रत्यक्ष में। आज क्या होगा आशंका भयंकर थी, परिस्थिति विकट थी, अपने को रोक नहीं पा रहे थे, तथागत साथ थे। वे बोले, भगवान ने सुना, ध्यान दिया। भगवान शान्त थे, धीर थे, गंभीर थे। यह कोई पेचीदा विषय था नहीं, संघ के नियमों के विपरीत था नहीं, फिर भी भिक्खुओं में शंका थी। शंका का निवारण जरूरी था, परिस्थिति थी, प्रसंग था।

भगवान बोल उठे, "भिक्खुओ ! ऐसा नहीं है, दोनों भाई एक से नहीं हैं। चुल्लकाल आलसी है, उद्यत नहीं है, कामगुणों में आप्त है, मोहपाश में बंधा है, वह कमजोर है, एक कमजोर दरख्त की तरह है, जिसे हवा का एक थपेड़ा भी गिरा सकता है, वह गिर गया। परन्तु महाकाल संयमी है, उद्यत है, पराक्रमी है, वह मात्र और अमात्र को जानने वाला है, श्रद्धावान है, वह एक सुदृढ़ पर्वत की तरह है जिस पर हवा का, तूफान का जोर नहीं चल सकता है।" भगवान ने कहा, भिक्खुओं को ज्ञान मिला, प्रकाश मिला, ज्योति मिली, वे स्थिर हुए, धीर हुए, गंभीर हुए। उस पर चिन्तन हुआ, मनन हुआ। यह कामगुणों की मायानगरी ही कुछ ऐसी है, जो आदमी को भटका देती है— अपनी राह से, बांध लेती है, अपने पाश में जो आनन्द खोजने में रत है, भौतिक सुख में रत है, उसका रास्ता दुख भरा है, विकट है। सांसारिक लोग जिसे सुख कहते हैं, वह उस अमृतपदगामी के लिए दुख है, दुविधा है, आस्रव है, वह बुराई है, रोड़ा है, नाग का फन है, उसकी फुंकार है। भगवान को भी 'मार' की विचित्र लीलाओं से गुजरना पड़ा था, प्रहार सहना पड़ा था। उसके लोभ से, लालच से वे डिगे नहीं। 'बोधिवृक्ष' की छांव में अटल रहे, अविचल रहे, और वे जीत गए, विजित हुए, बोधिसत्व बने। बुद्ध बने, मार्ग में आने वाली बाधाओं से डरना नहीं, लालच

से पड़ना नहीं, तड़क-भड़क से मोहित होना नहीं, रमणीय की कामना नहीं, विषाद की कोई परिस्थिति नहीं, ऐसा जिसमें है, वह पर्वततुल्य है, सिंह तुल्य है, वीर है, शूरवीर है, धन्य है। भगवान ने उस समय ये गाथाएं कहीं—

7. सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं, कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खं' व दुब्बलं।। 1.7।।

अर्थ : शुभ ही शुभ देखते हुए विहार करने वाले, इन्द्रियों में असंयत रहने वाले, भोजन में मात्रा न जानने वाले, आलसी और उद्योग-हीन पुरुष को मार वैसे ही गिरा देता है, जैसे वायु दुर्बल वृक्ष को।

8. असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं, सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो, वातो सेलं' व पब्बतं।। 1.8।।

अर्थ : अशुभ देखते हुए विहार करने वाले, इन्द्रियों में संयम बरतने वाले, भोजन में मात्रा जानने वाले, श्रद्धावान् और उद्योगी पुरुष को मार वैसे ही नहीं डिगा सकता, जैसे वायु शैल पर्वत को।

शब्दार्थ : **सुभानुपस्सि** = लौकिक मंगल की सोचने वाले को। **विहरन्तं** = विहार करते हुए को। **असंवुतं** = असंयमी को। **अमत्तञ्ञुं** = सही मात्रा (मात्रा न जानने वाले को)। **कुसीतं** = आलसी को। **पसहति** = उखाड़ फेंकता है, झकझोर देता है। **मारो** = मोह में फंसा कर मारने वाला मार। **वातो** = वायु। **रुक्खं** = वृक्ष को। **दुब्बलं** = दुर्बल को। **असुभानुपस्सि** = लौकिक मंगल की न सोचने वाले। **सुसंवुतं** = सुसंयमी को। **सद्धं** = श्रद्धावान् को। **आरद्धवीरियं** = निर्वाण प्राप्त्यर्थ उद्योग प्रारंभ कर देने वाले को। **नप्पसहति** = नहीं उखाड़ पाता या व्यग्र नहीं कर पाता। **सेलं व पब्बतं** = शिलाओं से युक्त पर्वत की भांति।

वग्ग 1, गाथा 9-10

काषाय वस्त्र का अधिकारी

(देवदत्त की कथा, स्थान—जेतवन)

9, 10. भगवान जेतवन विहार में थे, सावत्थि में थे। भिक्खुओं को प्रव्रजित करने के बाद उनका आदेश था कि प्रत्येक भिक्खु बुद्ध, धम्म और संघ के प्रचार-प्रसार हेतु चारिका करता रहे, लोगों के कल्याण में रत रहे, अपनी मुक्ति के मार्ग में रत रहे। उनके ममेरे भाई देवदत्त ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी, वह भिक्खु बन गया था, काषाय वस्त्र पहनता था, संघ में उपदेश भी देता था। वह ऋद्धिमान बना, अजातशत्रु का मित्र था। अजातशत्रु तथागत का उपासक था। बाण से बिंधे हंस पर सिद्धार्थ का अधिकार वह भूल नहीं पाया था। भगवान के वृद्ध होने पर उसने कई बार भगवान से निवेदन भी किया था कि भिक्खुसंघ की बागडोर तथागत अब उसको दे दें। तथागत का उत्तर था, "देवदत्त!

सारिपुत्त और मोग्गल्लान को भी भिक्खुसंघ नहीं दे सकता हूं, तुझे कैसे सौंप दूं।" उसकी ईर्ष्या और बढ़ गयी थी। उसने संघ-भेद भी कराया और अलग संघ भी चलाया, परन्तु वह चला नहीं, लोगों में उसकी पैठ जमी नहीं। उसने भगवान को मारने का भी कई बार प्रयत्न किया, परन्तु वह सफल नहीं हो सका। उसके कृत्य संघ के नियमों के विपरीत थे, अन्त समय में वह भगवान के दर्शन का प्यासा बना रहा, रास्ते में ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

यह देवदत्त था, जो राजगृह में उपदेश दे रहा था। भिक्खु थे काषायाच्छादित, भगवा चीवर पहने। सभी उनके काषाय वस्त्र की, भगवा वस्त्र की इज्जत करते थे, सम्मान करते थे। अपने अन्दर के कसाय को, कसाव को, आसव को दूर फेंक कर मन को निर्मल करने की वृत्ति में लगे लोगों का आभूषण है, यह काषाय वस्त्र। भगवा वस्त्र। तथागत भी भगवा चीवर पहनते थे, भगवां कहलाते थे, उन्होंने अपने वान् का, तृष्णा का नाश कर दिया था, खत्म कर दिया था। भगवान का उपदेश था, कोई भी भिक्खु किसी भी तरह का, किसी से भी कोई उपहार ग्रहण नहीं करेगा, अगर करेगा तो वह संघ के लिए करेगा, संघ उसे स्वीकार करेगा। संघ ही यह तय करेगा कि इस भेंट का क्या सदुपयोग किया जाय, किसे दिया जाय, किसे न दिया जाय ? ऐसे कई नियम तथागत ने बना रखे थे, विनय के लिए जरूरी थे।

सारिपुत्त चारिका पर थे, **महामोग्गल्लान** भी चारिका पर थे। दोनों राजगृह पहुंचे। देवदत्त भिक्खुओं से घिरा था, लोग भगवान के धर्म की महिमा से अभिभूत थे। राजगृह के लोगों ने उन एक हजार भिक्खुओं को भोजन पर आमन्त्रित किया। व्यवस्था में कोई कमी नहीं रहे, इस बात का प्रत्येक ने ख्याल रखा। भोजनदान की इस व्यवस्था में अगर कहीं कमी नजर आ जाय या सामग्री कम पड़ जाय, तो ऐसी स्थिति में, व्यवस्थापक को किसी एक उपासक ने बहुमूल्य कपड़ा दिया और कहा कि अगर व्यवस्था में कुछ कमी रहती दिखे तो इस वस्त्र का उपयोग कर लेना, अन्यथा इसे जिस भिक्खु को आप उपयुक्त समझें उसे दे देना। व्यवस्था माकूल थी, सब कुछ ठीक-ठाक निपट गया, उस बहुमूल्य वस्त्र का उपयोग नहीं हो सका। व्यवस्थापक ने उसे किसी भिक्खु को देना उपयुक्त समझा। सारिपुत्त वहां थे, मोग्गल्लान वहां थे, वे भिक्खुसंघ में वरिष्ठ थे, अनुकरणीय थे, परन्तु वे अकस्मात् आए थे, कभी-कभार आते थे। देवदत्त वहां वास करता था। ऋद्धिमान था, प्रमुख था। उपासक ने वह वस्त्र देवदत्त को दे दिया।

देवदत्त को बहुमूल्य वस्त्र प्राप्त हुआ, वह मुदित था, प्रसन्न था, अधीर था। उसने तुरन्त उसका चीवर बनाया और पहन कर इधर-उधर घूमने लगा। भिक्खुओं ने उसे देखा, लोगों ने उसे देखा। यह विनय का उल्लंघन था। देवदत्त को चीवर की जरूरत नहीं थी, चीवर जरूरतमंद भिक्खु को ही मिलना चाहिये था। चाहे वह भिक्खु थेर है या सामनेर (श्रामणेर), इस बात का कोई फर्क नहीं पड़ता है। विनय का ऐसा ही नियम था। कुछ भिक्खु भगवान का दर्शन करने, श्रद्धावनत होने सावत्थि गए और जाकर एक ओर बैठ गए। भगवान को सुनते, उनकी वाणी को सुनते, कुछ अपनी भी सुनाते, कुछ अपने साथियों की भी सुनाते। उनमें से कोई

भिक्खु बोल पड़ा, उसने देवदत्त द्वारा बहुमूल्य कपड़े का चीवर बनाये जाने के प्रकरण का वृत्तांत तथागत को बताया। तथागत ने चीवर के महत्त्व को समझाया, उसको धारण करने वाले के चरित्र के बारे में बताया। दुनिया में चरित्र ही तो सब कुछ है। नीति के अनुकूल आचरण करना चाहिये, धम्म के प्रकाश में विचरण करना चाहिये, जीवन बिताना चाहिये। चित्त को आसवों से रहित कर देना चाहिये, मन का मैल धुला है जिसका, वही पात्र है—चीवर धारण करने का, काषाय पहनने का, भगवा पहनने का, वे बोले—

9. अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति ।। 1.9।।

अर्थ : जो चित्तमलों को हटाये बिना काषाय वस्त्र धारण करता है, वह संयम और सत्य से हीन काषाय वस्त्र का अधिकारी नहीं है।

10. यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति।। 1.10।।

अर्थ : जिसने चित्तमलों को त्याग दिया है, जो शील पर प्रतिष्ठित है, जो संयम और सत्य से युक्त है, वही काषाय वस्त्र का अधिकारी है।

शब्दार्थ : यो=जो। **अनिक्कसावो** = अपवित्र (बिना चित्त के मलों को हटाये हुये।) **कासावं** = गेरूआ। **वत्थं** = वस्त्र। **परिदहेस्सति** = पहिनता है (परि+धा का पालि रूप)। **अपेतो** = दूर। **दमसच्चेन** = दम और सत्य से। **अरहति** = योग्य। **वन्तकसावस्स** = अपवित्र वमन किया हुआ हो। (**वन्ता** = वमन। **कसावा** = काषायं अपवित्र वा।) **ये सो वंतकसावो** = अपवित्रवमस्त्रावः, **अस्स** = स्यात्) **उपेतो** = युक्त। **वे** = संस्कृत 'वै' का पालिरूप ऐसा साधक उस बुद्ध शासन से प्राप्त काषाय वस्त्र धारण करने का अधिकारी है।

वग्ग 1, गाथा 11-12

सार को प्राप्त करने वाले

(अग्रश्रावकों की कथा, स्थान—राजगृह {विणुवन})

11-12. राजगृह एक नगर था, उसके समीप ही दो सम्पन्न ग्राम थे, समृद्ध थे— खुशहाल थे, उपनगर थे। एक का नाम उपतिष्य था दूसरे का कोलित। उपतिष्य ग्राम में एक ब्राह्मण था, उसकी रुपहली पत्नी थी—दयालु थी, सदाचारी थी, रूपसी नाम था, रूपसारी बोलते थे उसे। उसे एक पुत्र का जन्म हुआ, सारिपुत्त कहलाता था। दूसरा उपनगर कोलित था, वहां भी एक ब्राह्मण था, उसके घर भी एक पुत्र जन्मा, उसकी माता का नाम मोग्गलि था। रूपसारी का पुत्र उपतिष्य नगर का वासी था, मोग्गलि का पुत्र कोलित वासी था। लोग एक को उपतिष्य कहते थे, दूसरे को कोलित कहते थे, बचपन में दोनों के यही नाम थे।

दोनों बड़े होते हैं, मिलते हैं, मित्रता का हाथ बढ़ाते हैं, मित्र बन जाते हैं, दोनों साथ-साथ रहते हैं, साथ जाते हैं। एक दिन राजगृह में एक मेला लगता है, उत्सव होता है— दोनों वहां

जाते हैं। भीड़ को देखते हैं, जनता को देखते हैं, तमाशा देखते हैं, मनोरंजन देखते हैं। लोगों में उल्लास देखते हैं, उत्साह देखते है, अभिभूत होते है, विभोर होते हैं। कितना रम्य, कितना मोहक, कितना सुन्दर जमावड़ा है— यह। विचार करते हैं, सोचते हैं—क्या ये सनातन रह पायेंगे, ध्रुव बन पायेंगे, खुश रह सकेंगे? वैराग उठता है, वितृष्णा होती है, घर बार छोड़ देते हैं, ज्ञान की तलाश में भटकते हैं।

कहीं ज्ञानी पुरुष मिला नहीं कि वे उससे अपनी ज्ञान-पिपासा शान्ति की बात छेड़ देते हैं—मुक्ति के मार्ग को जानना चाहते हैं, उस पर चलना चाहते हैं। वे राजगृह के नजदीक जाते हैं— संजय परिव्राजक मिलता है। वे उसके शिष्य बन जाते हैं, ज्ञान-पिपासा बढ़ जाती है— उससे ज्ञान ग्रहण करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं परन्तु सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होती है। वे भटकते हैं, घूमते हैं—अपने को जानने के लिए। जगत् को जानने के लिए। मुक्ति-मार्ग का अन्वेषण करना चाहते हैं, उस पर चलना चाहते हैं। पक्के मित्र हैं, मन्त्रणा करते हैं, विचार करते हैं, प्रतिबद्ध होते हैं— अमरत्त्व को प्राप्त होंगे। दोनों में तय होता है— जिसे भी पहले ज्ञान प्राप्त हो, अमरत्त्व का मार्ग प्राप्त हो— दूसरे को भी बतायेगा, समझायेगा।

संजय परिव्राजक की कुटी छोड़ देते हैं—अरण्यों में विचरते हैं, साधुओं के बीच घूमते हैं, फिरते हैं। भगवान द्वारा प्रव्रजित अश्वजित भिक्खाटन को निकलते हैं— हाथ में भिक्खापात्र लिए, चीवर धारण किए हुए। वे सुन्दर है, सुआच्छादित हैं, धीर हैं, गंभीर हैं। सारिपुत्त देखता है, निहारता है, परखता है। वह उनके पीछे-पीछे चल देता है। अश्वजित् राजगृह में द्वार-द्वार से भिक्खा ग्रहण करते हैं, चलते हैं, अपने वास पर पहुंचते हैं। पूर्वाभिमुख होते हैं, भिक्खा ग्रहण करते हैं, हाथ-मुख का प्रक्षालन करते हैं, स्थिर होकर बैठते हैं। उपतिष्य अनुगमन करता है, पर उसे बात करने का मौका नहीं मिलता है, वह वहां भी पहुंच जाता है। अश्वजित का संकेत पाता है, बोलता है— आप संयत हैं, कोई भाव परिवर्तन नहीं है आप में, आप निर्विकार हैं, निश्छल हैं, आपके शास्ता कौन हैं ? किससे प्रव्रजित हुए हैं— आप्र ? वह अनुपम धर्म क्या है ?

अश्वजित कहते हैं— 'मेरे शास्ता महाश्रमण शाक्यकुलोत्पन्न तथागत बुद्ध हैं, उनसे ही मैंने दीक्षा ली है, उन्हीं के धम्म का अनुसरण करता हूं मैं।'

सारिपुत्त की जिज्ञासा बढ़ती है। वह जानना चाहता है, शास्ता के धर्म को। वह पूछता है, उसे उत्तर मिलता है। अश्वजित कहते हैं, मेरी अभी प्रव्रज्या हुई है, इस धर्म में, मैं नया हूं, विस्तारपूर्वक नहीं बता पाऊंगा, निरूपण नहीं कर पाऊंगा।'

उपतिष्य बोलता हैं, "अपनी समझ से बताइये, अच्छी तरह से बताइये, जाने उतना बताइये, मुझे केवल अर्थ से प्रयोजन है, विस्तार से नहीं।"

अश्वजित् कहता हैं, "सभी धर्म हेतु से उत्पन्न हैं, हेतु से उत्पन्न होने वाले जितने भी दुखादि हैं, उनका हेतु तथागत बताते हैं, उसका निरोध बताते हैं। यह महाश्रमण का वाद है, यह तथागत का धर्म है।"

उसके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं, अन्तर्दृष्टि मिल जाती है, वह स्रोतापन्न हो जाता है, स्रोतापन्न फल को प्राप्त करता है।

वह अपने साथी को तलाशता है, मोग्गलि पुत्र के पास जाता है, कोलित के पास पहुंचता है। सारिपुत्त प्रसन्न है, मुदित है, निर्मल है, दूर से मोग्गल्लान उसे देखता है। दोनों में बात होती है। सारिपुत्त बताता है, "मैंने अमृत पी लिया, धर्म को समझ लिया।" पूरी बात बताता है। मोग्गल्लान को भी प्रकाश मिलता है। ज्ञान-चक्षु खुलते हैं, वह समझता है, जो कुछ समुदय धर्म है, वही सब निरोध धर्म है, रहस्य का पर्दा उठ जाता है। उत्साहित होते हैं, उत्कंठित होते हैं, मन्त्रणा करते है, अन्य साथियों की राय भी चाहिये या सीधे तथागत के पास जाना चाहिये। संजय परिव्राजक की धर्म देसना में बहुत से संन्यासी थे, वह दो सौ पचास संन्यासियों के साथ रहता था, वे उनके शिष्य थे। सारिपुत्त बोला, मोग्गल्लान बोला, "हम तथागत के पास जाते हैं, वे हमारे शास्ता हैं।" सबको बताया, सबको समझाया, सबकी समझ में आया। वे भी बोले, "यदि आप जा रहे हैं, तो हमें वंचित क्यों कर रहे हैं, हम भी चलेंगे, हमें साथ लेते चलो।" तय होता है, निश्चय होता है, वे चल पड़ते हैं। पहले अपने गुरु के पास जाते हैं, संजय के पास पहुंचते हैं, उन्हें निवेदन करते हैं। संजय की असत् बुद्धि होती है, वह असार को सार समझता है और सार को असार। वह बोलता है, "उस श्रमण के पास जाने का कोई कारण नहीं, कोई मतलब नहीं, मेरा धर्म श्रेष्ठ है, पूर्ण है।" सारिपुत्त व मोग्गल्लान पुनः निवेदन करते हैं, संजय प्रलोभन देता है, कहता है, "सारिपुत्त-मोग्गल्लान ! सुनो, तुम मेरी बात सुनो, मेरी राय मानो, हम तीनों मिलकर रहेंगे, आज से तुम भी मेरे शिष्य मण्डल के नायक हो, नायकत्व स्वीकार करो, उधर से मुंह मोड़ो, हम परिव्राजकों का नेतृत्व मिलकर करेंगे, मिलकर शिष्य बनायेंगे, उधर मत जाओ।"

सारिपुत्त और मोग्गल्लान के लिए रुकना मुश्किल था, नामुमकिन था। वे चल पड़े, उनके पीछे-पीछे दो सौ पचास परिव्राजक और चल पड़े। संजय अकेला रह गया। वह बोल पड़ा, "एक गुरु को बहुत से चेले मिल जाते हैं, बुद्धिमान तथागत के पास जायेंगे तो मूर्ख, तो मेरे पास आयेंगे, दुनिया में बुद्धिमान तो कम ही हैं, मूर्ख ज्यादा हैं, मेरी गुरु-गद्दी चलती रहेगी।" कारवां आगे बढ गया। वे तथागत के पास जाते हैं, वन्दना करते हैं, अभिवादन करते हैं, उपसंपदा का विनम्र निवेदन करते हैं, उन्हें संपदा मिलती है, प्रव्रज्या मिलती है, "धर्म सुआख्यात है दुख क्षय के लिए, संयम से, उत्तमता से, पवित्र मन से, ब्रह्मचर्य से विचरण करो। चरित्र को श्रेष्ठ बनाओ, गलत विचारधारा में कभी मत पड़ो, कभी मत बहो, श्रेष्ठ को जानो, श्रेष्ठ को समझो।"

सारिपुत्त ने, मोग्गल्लान ने अपने बीते प्रवास का वृतांत सुनाया, अश्वजित् का मिलाप बताया, संजय की बातें बतायीं, मन का भार हल्का किया। तथागत ने ज्ञान की बहुत सी बातें बतायीं और यह उदान कहा, "जो असत् में सद्बुद्धि वाले और सत् में असत् देखने वाले हैं तथा जो असद् इच्छाओं का आचरण करने वाले हैं, वे सत्य को प्राप्त नहीं कर पाते हैं और जो सत्य को सद्रूप में और असत् को असद् रूप में जानकर सम्यक संकल्प वाले हैं, वे व्यक्ति सत्य तत्व को प्राप्त

करते हैं अर्थात् असार को सार और सार को असार समझने वाले, मिथ्या संकल्प में पड़े वे लोग सार को प्राप्त नहीं करते हैं। जो असार को असार और सार को सार समझते हैं, वे सम्यक संकल्प से युक्त हो सार को प्राप्त करते हैं।'' तथागत ने उस समय ये गाथाएं कहीं—

11. असारे सारमतिनो, सारे चासारदस्सिनो।
ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिच्छासंकप्पगोचरा।। 1.11।।

अर्थ : *असार (वस्तु) को सार और सार (वस्तु) को असार समझने वाले, मिथ्या संकल्प में पड़े हुए मनुष्य सार को प्राप्त नहीं करते।*

12. सारं च सारतो ञत्वा, असारं च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति, सम्मासंकप्पगोचरा।। 1.12।।

अर्थ : *जो असार को असार और सार को सार समझते हैं, सम्यक संकल्प से युक्त वही (व्यक्ति) सार को प्राप्त करते हैं।*

शब्दार्थ : असारे = असत्य में। **सारमतिनो** = सद्बुद्धि वाले। **सारे** = सत् में। **चासारदस्सिनो** = असत् देखने वाले। **सारं** = सत्य को। **नाधिगच्छन्ति** = प्राप्त नहीं कर पाते। **मिच्छासंकप्पगोचरा** = असद् इच्छाओं का अनुसरण करने वाले। **सारतो** = सत्य रूप से। **ञत्वा** = जानकर। **असारतो** = असद् रूप से। **सम्मासंकप्पगोचरा** = सम्यक संकल्प वाले।

वग्ग 1, गाथा 13-14

किसके चित्त में राग नहीं घुसता ?

(नन्द थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

13, 14 तथागत ने मानव मुक्ति के लिए घर-बार छोड़ा, तपस्या की, पारमिताएं पार कीं, मुक्त हो गए। मुक्ति का मार्ग बताया, निर्वाण का विवेक दिया, मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। जब उन्होंने घर छोड़ा, सभी ने उनको समझाने की भरपूर कोशिश की थी, रोका था, प्रलोभन दिया था, प्रवंचना में बांधे रखा था, परन्तु सिद्धार्थ के हृदय-तल की आवाज गहरी थी, दारुण थी, गंभीर थी, वे चले गए। जंगल-जंगल भटकते रहे, घूमते रहे, चारिका करते रहे। सिद्धार्थ से शुद्धोदन के मित्र सम्राट बिम्बिसार मिलते हैं, बात होती है, शुद्धोदन के सन्देश आते हैं, सिद्धार्थ वापस नहीं जाते हैं, फिर भी तथागत ने वचन दिया था कि वे एक बार कपिलवत्थु (कपिलवस्तु) अवश्य आयेंगे। वे आए, वाटिका में ठहरे, राजप्रासाद से दूर रहे। शुद्धोदन को अच्छा नहीं लगा। वे बोले, ''कुल की मर्यादा का ध्यान रखो, राज का ध्यान रखो, अपना ध्यान रखो, तुम्हें भीख मांगने की जरूरत कहां है और फिर उनसे भीख मांगते हो जो तुम्हारी प्रजा है। यह असहनीय है, वेदनीय है, पुत्र ! चलो राजप्रासाद चलो, वहीं चलो।''

सिद्धार्थ अब राजकुमार नहीं रह गए थे, वे तथागत बन चुके थे, वे जिधर से गुजरते लोग उनका दर्शन कर अपने आप को धन्य समझते थे। वे जिस रास्ते से चलते, उनके पीछे-पीछे जन

सैलाब उमड़ पड़ता था। वे राजप्रासाद में नहीं रुके, भिक्खा मांगते रहे, द्वारे-द्वारे, नगरे-नगरे, गली-गली। उनका उत्तर था—शुद्धोदन को, राजकाज वालों को, अपने जन्मदाता पिता को, "मेरा तो यही कुल है, युगों-युगों से, सदियों से। मेरा तो यही रूप हैं, युगों-युगों से, स्रहस्र-स्रहस्र सदियों से।" शुद्धोदन उनको मना नहीं सके। राजगृह के वेणुवन में वास करते समय प्राप्त समाचार के प्रत्युत्तर में तथागत कपिलवत्थु गए थे। पूरा परिवार, पूरा खान-दान, पूरा कपिलवत्थु उनकी आगवानी में था, कपिलवत्थु रोमांचित था, व्याकुल था। वे तथागत को वापस जाने नहीं देना चाहते थे, वे उन्हें रोक लेना चाहते थे। उनका भ्रम था, विश्वास था कि वे तथागत को पुनः राजसी वस्त्रों में लोटता हुआ देख लेंगे। उनका सपना पूरा होगा, उनकी इच्छाएं फलवती होंगी। पर तथागत के कपिलवत्थु जाने पर जो हुआ, वह इतिहास प्रसिद्ध हो गया। राजा शुद्धोदन स्रोतापन्न हुए, सकृदागामी हुए, कई गृहस्थ सामनेर हुए, कई उपासक हुए।

कपिलवत्थु में आज उनका तीसरा दिन था। राजप्रासाद में खुशियां थीं, सभी प्रसन्न थे, मुदित थे, आनन्दित थे। भगवान तथागत के छोटे भाई नन्द का अभिषेक था, गृह प्रवेश था, विवाह था। नगर में उल्लास था, लोगों में उमंग थी। तथागत की उपस्थिति ने इस उत्सव में चार चांद लगा दिये थे। नन्द अपने भावी-जीवन के सपनों में खोया था, भाव-विभोर था, प्रसन्न था—उसका बड़ा भाई आज उनके नगर में है, साथ में है, सामने है। वह श्रद्धा से, नम्रता से, आदर से लबालब था, तथागत की अनुकम्पा का कायल था। वहीं सुन्दरिका के स्वप्न में, भावी गृहस्थी के सुख से, राजकीय वैभव से मन मुदित था। नन्द शुद्धोदन का उत्तराधिकारी बनने जा रहा था, उसका विवाह उससे होने जा रहा था।

तथागत आते हैं, राजभवन के सामने जाते हैं, भिक्खा ग्रहण करते हैं, और सबको अपने उपदेशों से उपकृत करते हैं। वे चलने को उद्यत होते हैं, चारिका करते हैं, नन्द वहां खड़ा है, श्रद्धालु है, शीलवान है, वह भी तथागत के साथ हो लेता है। तथागत उसके हाथ में भिक्खापात्र थमा देते हैं। कुमार नन्द के हाथ में पात्र है, तथागत चल देते हैं ! नन्द वह पात्र तथागत को वापस देना चाहता था, पर गौरव के कारण, शील के कारण दे नहीं पाता है, वह पीछे-पीछे चल देता है। वह सोचता है, भगवान सीढ़ी से उतरेंगे तो पात्र ले लेंगे, नहीं लिया। सोचा प्रांगण पार करने पर, नगर की सीमा पार करने पर ....पर तथागत अविचल चलते रहे, नन्द गंभीर बना चलता रहा। तथागत ने पीछे मुड़कर भी नहीं देखा, कुछ बोला भी नहीं। कुमार नन्द दुविधा में था, चलता रहा। जनता ने देखा, लोगों ने देखा, प्रजा ने देखा। लोग दौड़ पड़े, उसकी मंगेतर के पास, जनपद कल्याणी के पास, सुन्दरिका के पास। जिसके साथ आज नन्द से विवाह होना तय था। दोनों जा रहे थे, एक से, एक जैसे रूप रंग में, पर फर्क था नन्द कद में चार अंगुल छोटा था, तथागत से। नन्द राजसी वेषभूषा में था, तथागत काषाय वस्त्र में निर्मल थे, शान्त थे। नन्द उद्विग्न था, दुविधा में था, शंका में था, उसे छुट्टी मिली नहीं, अवकाश नहीं मिला।

जनपद कल्याणी ने देखा। आवाज लगायी— 'आर्यपुत्र ! आर्यपुत्र ! आर्यपुत्र ! ..... शीघ्र

लौटियेगा।' नन्द मन्त्रमुग्ध था— सुन्दरिका के सौन्दर्य पर, उसके यौवन पर, उसके रूप-लावण्य पर। उसकी दृष्टि उस ओर उठी, गति धीमी पड़ गयी। तथागत चलते रहे, आगे बढ़ गए। नन्द दौड़ा, दौड़कर साथ किया, अनुगमन किया पर वह कुछ कह न सका। विहार में पहुंचे— भिक्खुओं ने तथागत का अन्नमुत्थान किया, वन्दना की, सत्कार किया। नन्द खड़ा था— हाथ में भिक्खापात्र लिए। तथागत बोले— 'नन्द प्रव्रज्या लोगे, उपसंपदा ग्रहण करोगे।''

नन्द किंकर्त्तव्यविमूढ़ था। हां कहे या ना कहे, संशय की स्थिति थी, उसके मुख से निकल पड़ा, ''हां !'' शास्ता भिक्खुओं की ओर मुड़कर बोले, ''नन्द को प्रव्रजित करो।'' नन्द प्रव्रजित हो गया— भिक्खु बन गया। शाक्यराज शुद्धोदन के कुल का अन्तिम वारिस भी भिक्खु बन गया, प्रव्रजित हो गया। नन्द युवराज था, जिसका अभिषेक होने वाला था, विवाह होने वाला था, घर-गृहस्थी बसाने वाला था घर छोड़ चल दिया था। जिसे विवाह के रूपहले, कमनीय महीन वस्त्रों से आच्छादित होना था, वह काषाय वस्त्रों में सुआवृत्त हो गया। चीवर धारण कर लिया। सोने की झारी में पानी पीने वाला, मिट्टी के पात्र को धारण करने वाला बन गया। सुन्दर-सुन्दर बालों के ऊपर स्वर्णिम मुकुट धारण करने वाले को केस विहीन होना पड़ गया। वह सांसारिक जीवन जीना चाहता था, सांसारिक जीवन से ही निकल गया। फिर भी उसका मन जनपद कल्याणी में अनुरक्त था, आसक्त था। उसका मन ध्यान साधना में नहीं लगता था। ध्यान साधना में अभ्यास और उद्योग की आवश्यकता थी, मन को रीता करना जरूरी था, आसवों का वमन करना आवश्यक था। बड़ा कठोर पथ है, दुर्गम रास्ता है, परन्तु वह उस पर चल पड़ा था। ध्यान में उसका मन नहीं लगता था, चित्त उचाट हो जाता था, यदा-कदा उसको अपनी होने वाली पत्नी याद आ जाती, उसकी आवाज कानों में गूंजती, ''आर्यपुत्र! शीघ्र लौटियेगा !'' वह उदास था, लौटना चाहता था, आसक्त था, अनुरक्त था, चिन्तित था, स्वास्थ्य गिर गया, मन उचट गया।

उसकी दशा अन्य भिक्खुओं से छुपी हुई नहीं रही, देखी नहीं गयी। तथागत को मालूम हुआ, वे जानते थे, पहचानते थे। नन्द से बोले, ''नन्द चलो, हिमालय की ओर सैर करें।''

वे चल पड़े, चलते रहे। उनको रास्ते में जली हुई बन्दरिया दिखी।

तथागत बोले, ''नन्द ! क्या जनपद कल्याणी इससे अधिक सुन्दर थी।''

नन्द तपाक से बोला, ''हां ! भगवान।''

भगवान शान्त थे, चलते रहे। तथागत जानते थे नन्द की दशा, उसके मन का हाल। एक दिन फिर बोले, नन्द चल मेरे साथ। वे चल पड़े, भवन पहुंचे। वहां अप्सरायें थीं, अनिन्द्य रूप था, यौवन था, चमक थी, प्रभाव था, लावण्य था।

तथागत बोले, ''नन्द क्या तुम इन्हें प्राप्त करना चाहते हो।'' नन्द शान्त था, नीरव था, निरुत्तर था। भगवान ने कहा, ''नन्द यह मेरा उत्तरदायित्व है, मैं अप्सरा तुम्हें दिला दूंगा। तू ब्रह्मचर्य का पालन कर, ध्यान में मन लगा।'' नन्द ने कोई उत्तर नहीं दिया।

समय बीतता गया। नन्द ध्यान में तल्लीन होने लगा, ब्रह्मचर्य का पालन करने लगा।

मार्ग पर चलने लगा। अन्य भिक्खु उसे उलाहना देने लगे, "अप्सराओं की सेवा कर रहा है।" "अप्सरायें मिलेंगी।"

वह शान्त चित्त रहने लगा, साधना में रत रहने लगा। रागादि पर नियंत्रण कर लिया, अभिमान के पार पहुंच गया। अन्धकार से बाहर निकल गया। उसे ज्ञात हुआ, वह कहने लगा "अन्धकार के कारण मैं मण्डन के चक्कर में पड़ा था, मैं अभिमानी था, चंचल था। काम से व्यथित था। भगवान के कारण मैंने ज्ञानपूर्वक आचरण किया है, इस जगत् से मैंने चित्त को ऊपर उठाया है।"

दूसरे भिक्खु इसे उसकी प्रवंचना मानते थे। वे भगवान से बोले, "नन्द स्वेच्छा से प्रव्रजित नहीं हुआ है, इसने अप्सराओं के लिए तपस्या ली है, अप्सराओं ने इसे खरीद लिया है। नन्द को ग्लानि हुई, पश्चाताप् हुआ, विपश्यना की और शीघ्र ही अर्हत् हो गया। नन्द में हुए इस परिवर्तन के बारे में भिक्खुओं ने तथागत से पूछा, "पूज्य भगवान ! नन्द में यह परिवर्तन कैसे हुआ ?" भगवान बोले, "पूर्व समय में नन्द का जीवन अच्छी तरह से न छाये हुए घर के समान था। किन्तु, अब अच्छी तरह छाये हुए घर की तरह हो गया है। जिस प्रकार भली-भांति ठीक प्रकार से छाये हुए घर में वर्षा-जल प्रविष्ट नहीं हो सकता है, उसी प्रकार ध्यान भावना द्वारा अभ्यस्त चित्त में राग का प्रवेश नहीं होता है।" तथागत ने ऐसा कहते हुए ये गाथाएं कहीं—

13. यथा अगारं दुच्छन्नं, वुट्ठी समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति ।। 1.13।।

अर्थ : जैसे ठीक से न छाये हुए छप्पर में वर्षा का जल घुस जाता है, वैसे ही ध्यान-भावना से रहित चित्त में राग समा जाता है।

14. यथा अगारं सुच्छन्नं, वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति ।। 1.14।।

अर्थ : जैसे ठीक से छाये हुए छप्पर में वर्षा का जल नहीं घुसता है, वैसे ही ध्यान भावना से अभ्यस्त चित्त में राग नहीं घुसता है।

शब्दार्थ : अगारं = मकान। **दुच्छन्नं** = अच्छी तरह न ढके हुये। **वुट्ठी** = वर्षा। **समतिविज्झति** = तोड़कर प्रवेश करती है। **अभावितं** = अदीक्षित। **चित्तं** = मन या मस्तिष्क। **सुच्छन्नं** = अच्छी तरह ढके हुए। **सुभावितं** = सुसंस्कारित।

वग्ग 1, गाथा 15-16

पापी शोक करता है

(चुन्द सुकरिक की कथा, स्थान राजगृह, वेणुवन)

15, 16. एक कसाई था, निर्दयी था, पशुओं को मारता था, सुअरों की हत्या करता था, यह उसकी आजीविका थी। जिन्दगी भर वह यह कर्म करता रहा। जिन्दगी गुजरती रही। जवानी के दिन ढ़ले, शरीर-गात ढ़ीले पड़े, बुढ़ापा आया, बूढ़ा हो गया, बुरे दिन आए, बुरे कर्म फलने लगे, वह तड़फने लगा, जमीन पर लेटने लगा, दौड़ने लगा। चीत्कार करता, चिल्लाता— सुअर की तरह,

पशुओं की तरह। उसकी आजीविका का, कसाईयत का पलड़ा भारी था। वह मानसिक संतुलन खो बैठा और बुरे कर्मों के फल भोगने लगा। मृत्यु आयी, वह चल बसा और उसका अगला जीवन भी दुखपूर्ण अपाय गति में हुआ, **चुन्द सुकरिक** नाम था उसका।

तथागत वेणुवन में थे। उनके अवधान में जब चुन्द सुकरिक की व्यथा आयी। तब तथागत ने अच्छे और बुरे कर्म, पापकर्म और पुण्यकर्म पर अपना प्रवचन दिया, सूत्र कहा, गाथा कही। वे बोले, "बुरे कर्म करने वाला, पाप कर्म करने वाला, इस लोक में दुखी होता है, परलोक में दुखी होता है, दोनों ही लोक में दुखी होता है। वह सोचता है, देखता है, विचार करता है, अपने कर्मों पर और अपने आचरण पर वह पुनः शोक करता है, दुखी होता है और नष्ट हो जाता है। जबकि पुण्य कर्म करने वाला प्रसन्न रहता है, सुखी रहता है, मुदित रहता है—इस लोक में, परलोक में। वह देखता है, सोचता है, विचार करता है—अपने कर्मों को, अपने कर्मों की पवित्रता को—वह सुखी होता है।"

भगवान राजगृह में थे, वेणुवन में विहर रहे थे, तब गाथा में कहा, "पाप करने वाला इस लोक में शोक करता है और परलोक में भी शोक करता है। पापी दोनों जगहों पर शोक करता है। वह अपने मलिन कर्मों को देखकर शोक करता है, पीड़ित होता है, वहीं पुण्यार्थी इस लोक में मोद करता है और परलोक में जाकर भी मोद करता है, वह दोनों जगह मोद करता हैं। वह अपने कर्मों की विशुद्धि को देखता है, प्रमोद करता है, प्रमुदित होता है।" ऐसा कहते हुए भगवान ने ये गाथाएं कहीं—

15. इध सोचति पेच्च सोचति, पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति, दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो।। 1.15।।

अर्थ : *इस लोक में शोक करता है और परलोक में जाकर भी; पापी दोनों जगह शोक करता है। वह अपने क्लेश (मैले कर्मों) को देखकर शोक करता है, पीड़ित होता है।*

16. इध मोदति पेच्च मोदति, कतंपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति, दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो।। 1.16।।

अर्थ : *इस लोक में मोद करता है और परलोक में जाकर भी, पुण्यार्थी (=पुण्यकर्मी) दोनों जगह मोद करता है। वह अपने कर्मों की विशुद्धि को देखकर मोद करता है, प्रमोद करता है।*

शब्दार्थ : इध = यहां अर्थात् इस लोक में। **सोचति** = शोक करता हैं। **पेच्च** = परलोक में। **उभयत्थ** = उभयत्र अर्थात् दोनों लोकों में। **विहञ्ञति** = नष्ट होता हैं। **दिस्वा** = देखकर। **कम्मकिलिट्ठमत्तनो** = अपने कर्मों की बुराई। **मोदति** = प्रसन्न रहता है। **कतपुञ्ञो** = पुण्य कर्म करने वाला, धार्मिक। **कम्मविसुद्धिमत्तनो** = अपने कर्मों की पवित्रता।

वग्ग 1, गाथा 17

पापी सन्ताप करता है

(देवदत्त की कथा, स्थान—जेतवन)

17. भगवान सावत्थि में विहरते थे। **देवदत्त** तथागत का ममेरा भाई था, वह भगवान को एक ओर तो श्रद्धा से निहारता था, देखता था, विचरण करता था, दूसरी ओर उसमें प्रतिशोध

की भावना भी थी, गर्व था, द्वेष था, ईर्ष्या थी। वह भगवान के साथ रहा, अलग हुआ, अलग भिक्खुसंघ बनाया, अलग उपोसथ करने लगा, अलग प्रवचन देने लगा— संघभेद करता था। आनन्द ने, अन्य भिक्खुओं ने, तथागत को इससे अवगत कराया। तथागत जानते थे, शान्त थे, मुदित थे। बोले, ''सज्जनों के साथ भलाई सुखकर है। दुर्जनों के साथ भलाई दुष्कर है। पापियों के साथ पाप सुकर है। सज्जनों के साथ, आर्यों के साथ पाप दुष्कर हैं।'' देवदत्त चला गया, उसके साथ पांच सौ भिक्खु भी चले गए। वे वज्जिपुत्र थे, नवीन भिक्खु थे, परिव्राजक बने ही थे। देवदत्त ने उनको अपनी बातों से भ्रमित कर दिया था, सभी गयाशीर्ष (पर्वत) चले गए।

सारिपुत्त और **मोग्गल्लान** ने भगवान को इसका निवेदन किया। समय बीतता गया। एक दिन सारिपुत्त चले, मोग्गल्लान चले, गयाशीर्ष पहुंचे। देवदत्त प्रसन्न था, खुश था, गर्वित था, हर्षित था। भिक्खुओं से बोला, ''देखो ! मेरा धर्म कितना श्रेष्ठ है, देखो, भिक्खुओ ! सारिपुत्त और मोग्गल्लान भी हमारे संघ में मिलने आ रहे हैं, आ गए हैं।'' स्वागत हुआ, सत्कार हुआ, बैठ गए। देवदत्त उपदेश दे रहा था— सभी भिक्खु सुन रहे थे। उसे तन्हा होने लगी, थकावट महसूस हुई, बोल उठा, ''सारिपुत्र ! भिक्खुओं को उपदेश दो। मेरी पीठ बैठे-बैठे गरम हो गयी है, विश्राम करूंगा।'' चौपाती संघाटी बिछायी, दाहिनी करवट लेटा, सो गया, नींद आ गयी। सारिपुत्त ने धर्म व्याख्या की, विवेचन किया, प्रवचन किया, अन्य भिक्खुओं को उत्तम लगा, समझ में आया, उनका विचार पलट गया। सारिपुत्त ने उपदेशों का प्रभाव देखा, गंभीरता देखी, परिस्थिति देखी। बोल उठे, ''भिक्खुओ ! उठो जहां भगवान हैं, वहां चलें।'' भिक्खु उठे, चलते बने, चल दिये, पहुंच गए, तथागत के पास, शास्ता के पास, उनकी शरण में, उनके चरणों में। देवदत्त की निद्रा भंग नहीं हुई, उसे अहसास तक नहीं हुआ, वह सोता रहा। **कोकालिक भिक्खु** देख रहा था, जान रहा था, चिल्लाया, ''देवदत्त ! देवदत्त !! सो रहे हो, उठो ! उठो ! भिक्खुसंघ जा रहा है। भिक्खुसंघ चला गया।'' देवदत्त की निद्रा भंग नहीं हुई। रात्रि थी, थकान थी, पीड़ा थी, बीमार पड़ गया। उसे बहुत धक्का लगा। जिस संघ को उसने संगठित किया था, जो संघभेद पैदा किया था, शिष्य मण्डली बनायी थी, वह जाता रहा, चला गया— तथागत के पास, महाश्रमण के पास।

उसका भूतकाल जाग्रत हो गया, विचार मन्थन चलने लगा, ग्लानि करने लगा, धक्का लगा। हृदय तल के द्वार पर इतनी गहरी चोट, गहरा धक्का, गहरा आघात था, रात्रि में ही रक्त वमन होने लगा, बीमार पड़ने लगा। बीमारी का एक दिन गुजरा, दूसरा दिन बीता, सप्ताह बीते, पखवाड़े गुजरे। महीने हो गऐ—नव मास तक वह रुग्ण रहा, बीमार रहा। ख्याति मिट्टी में मिल गयी, उसका मित्र अजातशत्रु जनमत के प्रबल विरोध के कारण सहायता नहीं कर सका, वह त्यक्त हो गया—जगत् से, भिक्खुसंघ से। भग्न-हृदय रह गया, दग्धमन रह गया, भग्न-अभिलाषा वाला हो गया। अन्त आया, पुराने रक्त सम्बंध ने जोर मारा, श्रद्धा उमड़ी, पश्चाताप हुआ, विचार किया, सावत्थि जाना चाहिये, तथागत के पास जाना चाहिये। गुनाह

किए है, पाप किए हैं, दुष्कर्म हुए है—कचोटते हैं, खाते हैं, कैद करते हैं। तथागत के पास जाऊंगा, शुद्ध होऊंगा। शिविका मंगायी, जेतवन की ओर प्रस्थान किया, चल दिया। मन भारी था, विचार तीव्र थे, बीच में नदी आयी, पुष्करिणी आयी, जेतवन नजदीक था। इच्छा हुई तथागत से मिलना हैं, शुद्ध होना है, पवित्र होना हैं, पहले शरीर धो लूं, हाथ-मुंह धोलूं, फिर चलूं। वह शिविका से उतरा, नदी के तट पर गया, तट पर पहुंचा, हाथ-मुंह धोता इससे पूर्व उसके प्राण-पंखेरू उड़ गए, धरती में समा गया। उसे दर्द हुआ, आर्तनाद हुआ, बोला, ''भगवान के अतिरिक्त और कहीं शरण नहीं है।''

तथागत सावत्थि में थे, जेतवन में थे, उन्हें समाचार मिला। धर्म-प्रविचय हुआ, भिक्खुओं ने धर्म श्रवण किया, मनन किया। पाप की चर्चा हुई, पापी की चर्चा हुई, उसकी मन स्थिति पर विचार हुआ, विवेचन हुआ। उनकी गति पर विचार हुआ, दुर्गति पर विचार हुआ, मनन हुआ। भगवान बोले, ''पापी इस लोक में सन्ताप करता है और परलोक में जाकर भी दुखी होता है। मैंने पाप किया है, ऐसा सोचता है और सन्ताप करता रहता है, वह दुर्गति को प्राप्त होकर और भी अधिक सन्ताप करता है। पाप कर्म करने वाला हर जगह दुखी होता है, संतप्त रहता है, उसकी गति न यहां है, न वहां है। वह अपने बुरे कर्मों के कारण दुखी होता है व उस पर बार-बार विचार करके कि उसने यह पाप किया, यह दुष्कर्म किया, उसे और दुखदायी बना देते हैं।'' ऐसा कहते हुए तथागत ने यह गाथा कही—

17. इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतं ति तप्पति, भिय्यो तप्पति दुग्गतिं गतो ।। 1.17।।

अर्थ : *पापी इस लोक में सन्ताप करता है और परलोक में जाकर भी। ''मैने पाप किया है'' सोच सन्ताप करता रहता है। दुर्गति को प्राप्त हो और भी अधिक सन्ताप करता है।*

शब्दार्थ : कतं = किया हुआ। **ति** = ऐसा। **भिय्यो** = पुनः या अधिक। **दुग्गतिं** = दुर्गति अर्थात् नरक को।

वग्ग 1, गाथा 18

पुण्यार्थी आनन्द करता है

(सुमनादेवी की कथा, स्थान—जेतवन)

18. **अनाथपिण्डिक** दानी था, ज्ञानी था, श्रद्धावान था, उपासक था, गृहस्थ था। तथागत के उपदेश सुनता था, विचार करता था, मनन करता था, उस मार्ग पर चलता था। उसे धन-धान्य की कमी नहीं थी, वैभव से भण्ड़ार भरा था, घर में बहार थी, प्यार की झंकार थी, इज्जत थी, आबरू थी। उसकी एक सुयोग्य पुत्री थी, बाला थी, तरुणी थी, होशियार थी। ज्ञानवान थी, धर्मनिष्ठ थी—सुमना उसका नाम था। भगवान की अमृतवाणी की पिपासु थी, उनकी अमृतवाणी का श्रवण करती थी, मनन करती थी, उसी मार्ग पर चलती थी। अनाथपिण्डिक खुश था, सांसारिक खुशी का दौर उसे मिटता प्रतीत हुआ, जब उसकी यह पुत्री

सुमना मृत्यु-शय्या पर पड़ गयी, मृत्यु से घिर गयी, मरने लगी। वह उद्विग्न हुआ, उसके पास गया। पुत्री सुमना ने बुलाया, वह शान्ति से बोली, प्रेम से बोली, भ्रातृत्वभाव में बोली—धर्म की, करुणा की बयार बहायी और चल बसी।

अनाथपिण्डिक उदास हुआ, दुखी हुआ, उद्विग्न हुआ, सोचने लगा। यह मेरी पुत्री है। मुझे भाई कहती है, भ्राता कहकर पुकारती है, और मर जाती है, इसमें कोई सिद्ध बात है, सत्य है। वह तथागत के पास जाता है। तथागत सावत्थि में विहरते हैं, जेतवन में विहार करते हैं, जाकर अभिवादन करता है, स्तवन करता है, प्रदक्षिणा करता है, चरणों की वन्दना करता है, बैठ जाता है। तथागत प्रवचन दे रहे होते हैं, प्रवचन खत्म होता है। अनाथपिण्डिक बोलता है, "भगवान ! मेरी पुत्री सुमना ने मरते समय मुझे भाई कहकर पुकारा, आवाज लगायी, धम्म-प्रविचय किया। ऐसा क्यों ?" भगवान ने उसे समझाया, सभी भिक्खुओं को समझाया, "वह धर्मनिष्ठ थी, त्यागी थी, उसके राग, द्वेष, मोह क्षीण हो गए थे। पुनः प्रवर्तन नहीं हो सकते हैं, ऐसे लोग। उसके क्लेश, उपक्लेश निरस्त हो गए, वह निर्वाण के मार्ग पर है। उसके अनुशय निरस्त हैं, वह कामधातु में जन्म ग्रहण करेगी, निर्वाण प्राप्त करेगी, इसलिये उसने तुम्हें यह अभिबोधन किया, संबोधन किया। वह सकृदागामी है, सकदागामी है। यह निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में चलने वाले मनुष्य का दूसरा सोपान है। सुमना इस सोपान पर विहार कर रही है, उसका फल प्राप्त कर रही है। वही हे अनाथपिण्डिक ! तुम श्रद्धानुसारी, धर्मानुसारी सोतापन्न हो ! स्रोतापन्न हो। उसने पुण्य किए हैं, अच्छे कर्म किए हैं, इसलिये वह आनन्दित है, हर्षित है—इस लोक में और उस लोक में भी। वह दोनों ही जगह आनन्दित है। वह इससे भी आनन्दित है कि उसने जीवन में पुण्य कर्म किए हैं, अच्छे कर्म किए हैं, धर्मानुचारी रही है, श्रद्धासारी रही है। ऐसा सोचकर भी वह आनन्दित है और अगले लोक में और आनन्दित ही होगी। भवचक्र में, एक जीवन में अन्त नहीं है, जन्म है, पुनर्जन्म है, मार्ग है, फल है, कर्म है, कर्मफल है। मनुष्य अच्छे भव में जन्म ले सकता है, बुरे भव में जन्म ले सकता है, उसकी मनोदशा-मनःस्थिति अच्छी हो सकती है, बुरी हो सकती है, वह अच्छी मनःस्थिति प्राप्त कर खुश होता है, सुखी रहता है।" वे बोले, "भिक्खुओ ! पुण्यार्थी इस लोक में आनन्द करता है, और परलोक में जाकर भी आनन्द करता है, पुण्यार्थी दोनों जगह आनन्द करता है और अधिक आनन्द प्राप्त करता है।" तथागत ने गाथा कही—

18. इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
पुञ्ञं मे कतं ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो।। 1.18।।

अर्थ : इस लोक में आनन्द करता है और परलोक में जाकर भी; पुण्यार्थी (=पुण्यकर्मी) दोनों जगह आनन्द करता है। 'मैने पुण्य किया है' ऐसा सोच कर आनन्दित होता है। सुगति को प्राप्त हो और भी अधिक आनन्द करता है।

शब्दार्थ : पुञ्ञ = पुण्य। सुग्गतिं = सद्गति।

वग्ग 1, गाथा 19-20

श्रामण्य का अधिकारी

(दो मित्र भिक्खुओं की कथा, स्थान—जेतवन)

19, 20. भगवान बुद्ध का धर्म सांगोपांग है, सर्वोत्तम है, बहुश्रुत है, कल्याणकारी है। यह आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है, अन्त में कल्याणकारी है। तथागत बुद्ध ने सर्व प्रकार के अन्धकार को अपने आलोक से सर्वथा नष्ट किया है। वे आलोकदीप थे, त्रिलोकीनाथ कहलाते हैं, लोकनाथ कहलाते हैं। त्रिलोकदीप कहलाते हैं, जगत्-आलोक कहलाते हैं। महादेव कहलाते हैं। आज भी और उस समय भी बहुत से लोग भगवान की अमृतवाणी से लाभान्वित होते थे और भगवान के संघ में प्रविष्ट होते थे, होते हैं। कई लोग विद्वान् थे, चतुर थे, कई तीक्ष्ण-बुद्धि थे, कुशाग्र थे, कई मेहनती थे, कम पढ़े-लिखे थे। कोई ज्ञान मार्ग से, कोई ध्यान मार्ग से तथागत के मार्ग पर चलते थे, चलना चाहते थे। भगवान की कृपादृष्टि सब पर थी, सबका ध्यान था, अवधान था, ज्ञान था।

कुछ भिक्खु ऐसे थे, जो अपनी पण्डिताई दर्शाते थे, शब्द-जाल बुनते थे, वाग्जाल में अन्य भिक्खुओं को निरुत्तर कर देते थे। कुछ सीधे थे, सरल थे, अपने ध्यान में मग्न रहते थे, विपश्यना-रत रहते थे, जीवन के दैनन्दिनी अनुभव से सीखते थे, भगवान के प्रवचनों से उसे प्रक्षालित करते थे, अनुभव करते थे, विचरण करते थे। कुछ भिक्खु भगवान के प्रवचनों को कण्ठस्थ करने में माहिर थे, सूत्रों की याददास्त जबर्दस्त थी, बेजोड़ थी, कुछ सुत्त की स्मृति में पिछड़े थे, तो ताप में, तपस्या में, विपश्यना में प्रखर थे। सब तरह के भिक्खु भगवान के भिक्खुसंघ में थे, फिर भी मिलजुल कर रहते थे, भ्रातृत्व भाव था, बन्धुता थी, ललक थी, उपेक्षा थी, अपेक्षा थी। कभी-कभी भगवान किसी विषय पर प्रवचन देते, तो बुद्धिजीवी भिक्खु, पण्डित भिक्खु, विद्वान् भिक्खु ऐसा धारा प्रवाह विवेचन करते थे कि कम पढ़े-लिखे भिक्खुओं के पल्ले भी नहीं पड़ता था, इस प्रकार वे अपनी पण्डिताई छांटते थे। दूसरी ओर संसार त्यक्त भिक्खु धम्म और निर्वाण को हृदयंगम करने में लगे रहते थे। वे धम्म के अभ्यास में ही रमे रहते थे और उन्होंने बहुत कुछ अनुभूत कर लिया था अपने जीवन से, अपने अनुभव से। वे पण्डित भिक्खुओं के इन शब्दाडंबरों से, वाक्जाल से निकल नहीं पाते थे, उन पण्डिताऊ भिक्खुओं के सामने उनका कोई उत्तर नहीं होता था, प्रतिकार नहीं होता था। पण्डित भिक्खु कभी-कभी भगवान बुद्ध की उपस्थिति में भी ऐसा करते थे।

भगवान दृष्टा थे, समदृष्टा थे, महाकारुणिक थे। एक दिन सावत्थि के जेतवन विहार में बैठे थे, प्रवचन कर रहे थे। वे धम्म की, धर्म के मर्म की बात करते थे, समझाते थे। धर्म जीवन के लिए आवश्यक है, एक अच्छे धर्म का पालन प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये। पूजा-पाठ करना, मन्दिर जाना, विहार जाना, वहां नमन करना, स्तवन करना, भेंट चढ़ाना, धर्म नहीं कहा जा

सकता है। धर्म की पुस्तकें पढ़ना, उस पर टीका लिखना, उसे कण्ठस्थ करना, उसे गाना-सुनना, यह धर्म नहीं है। धर्म पुस्तकों में लिखे शब्दों को दोहराना या पढ़ना ही नहीं है। जो भी हम कर्म करे वह मन से, वचन से, चित्त से, वाणी से, शरीर से एकसार होना चाहिये। हम कहें कुछ और करें कुछ, यह धर्म नहीं हो सकता है। हमारी कथनी और करनी में अन्तर नहीं होना चाहिये। चित्त में शत्रुता है और लोगों के बीच उसका आदर करते हैं, यह धर्म नहीं है। पापकर्म करते हैं, लूटते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, मिथ्याचरण करते हैं, नष्ट करते हैं और भगवान के विहार में जाते हैं, पूजा करते हैं, भली बातें करते हैं, यह धर्म नहीं है। ये अच्छे कर्म नहीं हैं। धर्म केवल उपदेश नहीं है, वह आचरण की वस्तु है, चार आर्यसत्यों को जानें, पहिचानें, प्रतिभिज्ञान करें, उस पथ पर चलें—मनसा, वाचा, कर्मणा।

प्रवचनों में वे धर्म के ऐसे मर्म की बात पूछते, तो जो पण्डित भिक्खु होते थे, शेखी बघारते थे, वे चुप हो जाते थे, निरुत्तर हो जाते थे, परन्तु जिन्होंने मार्ग को जिया, मार्ग पर चले, वे अपने अनुभव से, अभिज्ञान से, विपश्यना से उसका विवेचन करते थे, जो सुभीता होता था, उत्तम होता था, उपयुक्त होता था। भगवान महाकारुणिक ऐसे ही एक मौके पर सावत्थि के जेतवन विहार में कहते हैं, "अगर कोई प्रमत्त मनुष्य, प्रलापी भिक्खु, शेखी बघारने वाला मनुष्य बहुत सी संहिताओं को पढ़ता हुआ, किताबों को रटता हुआ, त्रिपिटकों की जानकारी रखता हुआ भी तद्नुकूल आचरण नहीं करता है, तो वह श्रमण, श्रमण के पद में उसी प्रकार भागीदार नहीं होता है, जिस प्रकार दूसरों की गायें चराने वाले ग्वाले को, गायों को गिनने के अलावा कोई भागीदारी नहीं मिलती है। परन्तु यदि कोई धर्मानुसारी व्यक्ति थोड़ी सी भी जानकारी रखता है, और वह राग, द्वेष और मोह को छोड़कर, सम्यक-ज्ञानवान और सभी वासनाओं से मुक्त हो जाता है, किसी की चिन्ता नहीं करता है, तो वह लोक और परलोक दोनों ही जगहों पर श्रमण धर्म का भागीदार होता है। हे भिक्खुओ ! चाहे कोई भले ही बहुत से ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु प्रमाद में पड़े और यदि उसके अनुसार आचरण न करे, तो वह दूसरों की गायें गिनने वाले ग्वाले की भांति, श्रामण्य का अधिकारी नहीं होता है। वहीं दूसरी ओर चाहे कोई भले ही थोड़े ही ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु धर्मानुकूल आचरण करता हो, राग, द्वेष और मोह को छोड़कर सचेत और मुक्तचित वाला हो तथा इस लोक या परलोक में कहीं भी आसक्ति न रखता हो, तो वह श्रामण्य का अधिकारी होता है।" भगवान ने उस समय ये गाथाएं कहीं—

19. बहुं पि चे सहितं भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो' व गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्ञस्स होति।। 1.19।।

अर्थ : चाहे कोई भले ही बहुत से ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु प्रमाद में पड़ यदि उसके अनुसार आचरण न करे, तो वह दूसरों की गौवें गिनने वाले ग्वाले की भांति, श्रामण्य का अधिकारी नहीं होता।

20. अप्पम्पि चे संहितं भासमानो, धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागंच दोसंच पहाय मोहं, सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा, स भागवा सामञ्ञस्स होति।। 1.20।।

अर्थ : *चाहे कोई भले ही थोड़े ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु धर्मानुकूल (=पाठानुसार) आचरण करता हो, राग, द्वेष और मोह को छोड़ सचेत और मुक्तचित्त वाला हो तथा इस लोक या परलोक में कहीं भी आसक्ति न रखता हो, तो वह श्रामण्य का अधिकारी होता है।*

शब्दार्थ : बहुं = बहुत। **अपि** = भी। **चे** = यदि। **संहितं** = संहिता (बुद्ध वाक्यों का संकलन-त्रिपिटकादि पवित्र बौद्ध ग्रन्थ)। **भासमानो** = पढ़ता हुआ। **न तक्करो** = उसे न करने वाला। **होती** = होता है। **नरो** = मनुष्य। **पमत्तो** = प्रमत्त। **गोपो** = ग्वाला। **गावो** = गायें। **गणयं** = गिनता हुआ। **परेसं** = दूसरों की। **भागवा** = हिस्सेदार। **सामञ्ञस्स** = श्रामण्य पद का। **अप्पम्पि** = थोड़ा भी। **अनुधम्मचारी** = धर्मानुकूल चलने वाला। **दोसं** = द्वेष को। **पहाय** = छोड़कर। **सम्मप्पजानो** = सम्यक ज्ञान को जानने वाला। **सुविमुत्तचित्तो** = सभी प्रकार की वासनाओं से मुक्त चित्त वाला। **अनुपादियानो** = किसी की चिन्ता न करते हुए। **इध वा हुरं वा** = इस लोक में अथवा उस लोक में।

